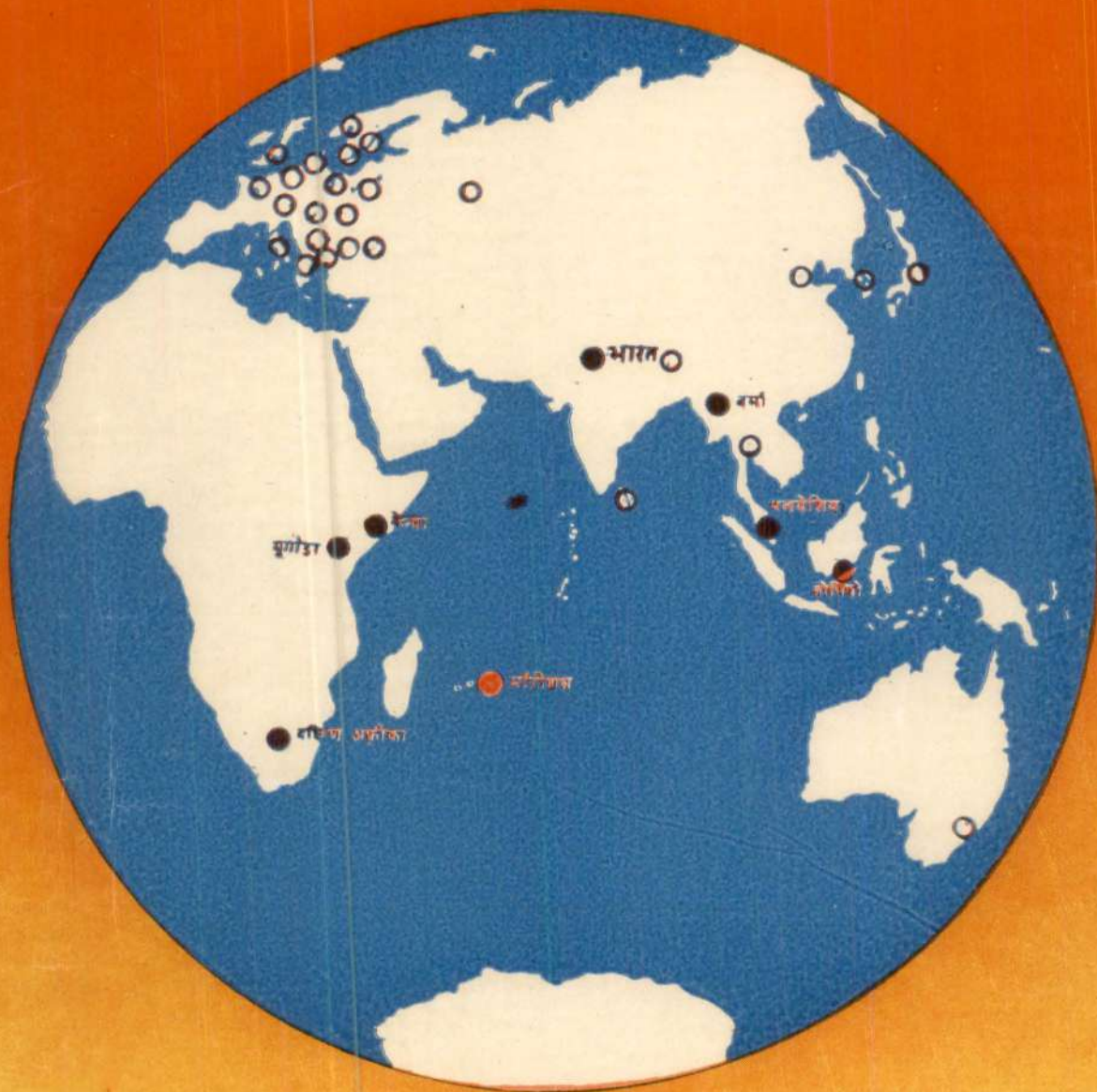


आजकल

अक्टूबर, 1983

एक रुपया



तृतीय
विश्व हिन्दी
सम्मेलन



प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी बच्चन रचनावली का विमोचन करते हुए

बच्चन रचनावली का विमोचन

★ सुशील वर्मा

गत 8 अगस्त के सायं राजधानी के कमानी आडिटोरियम में आयोजित कविवर बच्चन की सम्पूर्ण रचनावली का विमोचन समारोह बच्चन जी की प्यार — स्फोटिकियों के कारण एक लम्बे समय तक याद किया जायेगा।

रचनावली का विमोचन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने किया, जो समारोह में पूरे समय उपस्थित रह कर बच्चन जी तथा उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा रचनावली के प्रकाशन के महत्व पर हिंदी के दो प्रख्यात साहित्यकारों, डा० नामवर सिंह तथा रघुवीर सहाय के विचार ध्यानपूर्वक सुनती रहीं। 9 खण्डों में प्रकाशित इस रचनावली का सम्पादन कवि एवं समीक्षक अजित कुमार ने किया है, जिन्हें वर्षों तक बच्चन जी के साथ काम करने तथा उन्हें नजदीक से देखने-परखने का सुयोग प्राप्त हुआ है।

बच्चन जी के आचरण को सारी औपचारिकताओं से परे उनके कविमन की निःसंशय अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। उन्होंने बड़े दो टूक शब्दों में प्रधानमंत्री को विमोचन करने, आगत बच्चन साहित्य के प्रेमियों को समारोह में उपस्थित होने तथा रचनावली के प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन लि० की

निदेशिका श्रीमती शीला संधु को धन्यवाद देने से इनकार किया उन्होंने कहा कि मैं आप लोगों के प्रति कृतज्ञता क्यों प्रकट करूं? आपने मेरी कृतियां पढ़कर आनन्द उठाया है। उन्होंने लोगों को भी सलाह दी कि वे सिर्फ उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी पुस्तकें न पढ़ें। मैं स्वयं कभी भी किसी की पुस्तक उसकी कृतज्ञता प्राप्त करने के लिए नहीं पढ़ता।

यह समारोह इस अर्थ में भी ऐतिहासिक महत्व का रहा कि यह पहला अवसर था जब हिंदी के किसी साहित्यकार की सम्पूर्ण रचनावली उसके जीवन काल में ही प्रकाशित हुई हो। स्वयं बच्चन जी ने हास्य का पुट देते हुए इस तथ्य की ओर इंगित किया। उन्होंने कहा कि सम्पूर्ण रचनावली सामान्य लेखक के निधन के बाद ही प्रकाशित की जाती रही है। मेरी रचनावली मेरे जीवन काल में ही प्रकाशित हो रही है। मेरी उम्र अब 76 वर्ष की हो रही है। शायद इन्हें आभास हो गया है कि मेरी मृत्यु निकट है।

अपने भाषण के दौरान बच्चन जी ने यह सुझाव दिया कि विदेशों की तरह देश के प्रत्येक डाक खाने व थाने के साथ-साथ

(शेष पृष्ठ 28 पर)



आजकल

आधुनिक साहित्य
एवं
संस्कृति का संवाहक मासिक

संपादक
नरेन्द्र सिन्हा
सहायक संपादक
प्रवीण उपाध्याय
उप-संपादक
राधेश्याम भारद्वाज

व्यवस्थापक : लेख राज बत्रा
सहायक व्यवस्थापक : देवकी नन्दन त्रेहन
सहायक निदेशक (उत्पादन) : के. आर. कृष्णन
आवरण सज्जा : पी. के. सेनगुप्ता

वर्ष 39; अंक 6; पूर्णांक 470; अक्टूबर, 1983
(आश्विन-कार्तिक 1905)

5. सम्पादकीय हिन्दी—अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप लेख

6. भारत की भावात्मक एकता और राजभाषा नरसा रेड्डी
11. बहु भाषा-भाषी समाज में भाषा की भूमिका प्रो० जी० सुंदर रेड्डी
13. क्या भाषा राष्ट्र को जोड़ती है चन्द्रशेखर शुक्ल
19. भारतेतर हिन्दी लोक साहित्य और उसकी समस्याएं डॉ० कामता कमलेश
23. एशियाई भाषाएं और हिन्दी डॉ० प्रभाकर माचवे
25. प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों पर एक दृष्टि अमरेंद्र मिश्र
29. 'विश्व भाषा' के रूप में हिन्दी प्रो० ये० चेलिशेव
51. जापान में हिन्दी डॉ० सत्य भूषण वर्मा
59. कोटा का दशहरा-धूमिल होती परम्पराएं प्रभात कुमार सिंघल
62. परिचर्चा : भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षण का स्वरूप डॉ० कमल किशोर गोयनका
35. बातचीत : डॉ० रामविलास शर्मा से पुष्पा अवस्थी
44. प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद से डॉ० भक्त राम
31. कविताएं

समूल एक भूल, भूल के प्रकाश में,
अलक्ष्य के खेल भवानी प्रसाद मिश्र
नमो नमो भारत-माता, अपने रथ में
बैठा मुझे, कमल को लेकर चल ओदोलेन स्मेकल
तू मेरा रोमा 'रत्न', राहुल के प्रति,
न्याग्रा में अलखनंदा, श्याम सिंह शशि
गीत माहेश्वर तिवारी
तुम नहीं हो श्रोम प्रकाश प्रभाकर
विश्व प्रेम की भाषा हिन्दी मोहनचंद्र मंडन
गजलें सत्यपाल सक्सेना
रंगे हाथ और ज्ञान प्रकाश विवेक
अशोक गुजराती

कहानी

16. सौंदर्य की तृषा (गुजराती कहानी) चंद्रवदन मेहता
53. मैं वेदया नहीं हूँ (हिन्दी कहानी) जया रमेश
37. एक प्रश्न मृत्यु (काव्य नाटक) डा० विनय
70. पुस्तक समीक्षा : ओदोलेन स्मेकल :
प्यार और विश्वासो का कवि प्रताप सहगल
कविताएं : सुब्रह्मण्य भारती मोहन चंद्र मंडन
साहित्य और जीवन मूल्य : सतह से
ऊपर सतह से नीचे डा० रामदरश मिश्र
व्यवस्था के प्रति विरोध के स्वर मृदुला अरुण
इसके अतिरिक्त वातायान, प्रतिक्रियाएं और रंगमंच
आदि अन्य नियमित स्तम्भ ।

संपादकीय पत्र-व्यवहार : संपादक 'आजकल' (हिन्दी), पटियाला
हाउस, नई दिल्ली-110001 (टेलीफोन : 387069)

चंदे एवं विज्ञापन तथा पत्रिका न मिलने की शिकायत भेजने का
पता : व्यापार व्यवस्थापक, पटियाला हाउस, नई दिल्ली ।
ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें ।

**जीवन के सब
फीके भोग
जब तक मानुष
नहीं निरोग**



स्वास्थ्य मानव की पहली आवश्यकता है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए योजनाएं बनाते समय स्वास्थ्य सेवाओं का विशेष ध्यान रखा गया है।

- सन् 2000 तक सभी के लिए स्वास्थ्य की योजना तैयार की गई है।
- देश में पहले ही लगभग डेढ़ लाख स्वास्थ्य रक्षक नियुक्त किए जा चुके हैं और 55 हजार से अधिक उपकेन्द्र और प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र खोले गए हैं।
- बालक और प्रसूति महिलायें रोग का शिकार जल्दी होती हैं इसके लिए समन्वित बाल विकास सेवा शुरू की गई है। इसके लाभदायक परिणाम सामने आ रहे हैं।
- तंग और गंदी बस्तियों के घुटन और सीलम भरे वातावरण में अनेक बीमारियां पैदा हो जाती है। 1990 तक ऐसी बस्तियों में रहने वाले 3 करोड़ लोगों को 20 सूत्री कार्यक्रम के अनुसार स्वच्छ वातावरण उपलब्ध करवाया जाएगा।

स्वस्थ नागरिकों से ही सद्गुण समाज का निर्माण होता है

विस्तृत जानकारी के लिये कूपन का प्रयोग करें:-

उप-निदेशक,
मास मेलिंग यूनिट,
विज्ञापन और दृश्य प्रचार निदेशालय,
'बी' ब्लॉक, कस्तूरबा गांधी मार्ग,
नई दिल्ली-110001.

नये 20 सूत्री कार्यक्रम के बारे में विस्तृत जानकारी के लिए कृपया मुझे हिन्दी/अंग्रेजी की पुस्तिका भेजें।

नाम
पता
..... पिन

नया 20 सूत्री कार्यक्रम

davp 83/59

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा आयोजित

राष्ट्रीय समिति

- ☐ अध्यक्ष
डा० बलराम जाखड़
अध्यक्ष लोकसभा
- ☐ कार्याध्यक्ष
श्री मधुकर राव चौधरी
- ☐ महासचिव
प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद
- ☐ महासचिव (संगठन)
श्री शंकरराव लोंढे

कांस्टीट्यूशन क्लब, समिति कक्ष,
दूसरी मंजिल, विट्ठलभाई पटेल भवन,
रफी मार्ग, नई दिल्ली-110001



सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा 'आजकल' मासिक पत्रिका का 'तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन' अंक प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों के दौरान हिन्दी को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो प्रतिष्ठा और बल प्राप्त हुआ है उसे अपने आप में महत्वपूर्ण उपलब्धि मानना चाहिए। निर्विवाद रूप से वह राष्ट्र संघ में प्रवेश योग्य मानी गई है।

'यह तो सर्वविदित ही है कि हिन्दी का जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में तीसरा स्थान है और विभिन्न राष्ट्रों के लगभग 100 से अधिक विश्वविद्यालयों में इसके अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान की व्यवस्था है। तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के माध्यम से हम अभी तक जो निर्णय कर चुके हैं उन्हें अद्यतन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए और भी विस्तार देने का उपक्रम करेंगे।

हमें आशा है कि 'आजकल' का यह विशेषांक विश्व हिन्दी सम्मेलनों की उपलब्धियों और संभावनाओं को समुचित रूप से प्रस्तुत करते हुए हमारे उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में योगदान देगा।

(डा० बलराम जाखड़)

अध्यक्ष

राष्ट्रीय समिति एवं विश्व हिन्दी सम्मेलन

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा आयोजित

राष्ट्रीय समिति

☐ अध्यक्ष

डा० बलराम जाखड़
अध्यक्ष, लोक सभा

☐ कार्याध्यक्ष

श्री मधुकरराव चौधरी

☐ महासचिव

प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद

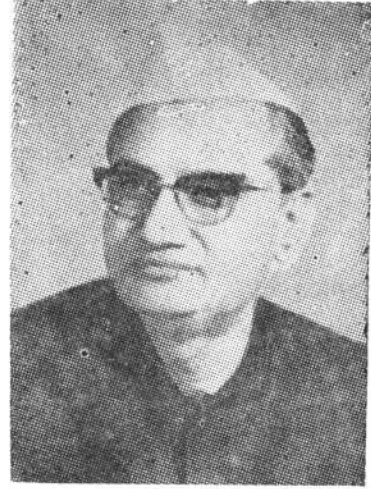
☐ महासचिव (संगठन)

श्री शंकरराव लोढे

कांस्टीट्यूशन क्लब, समिति कक्ष,

दूसरी मंजिल, विठ्ठलभाई पटेल भवन,

रफी मार्ग, नई दिल्ली-110001



सन्देश

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई कि आप तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर 'आजकल' मासिक पत्रिका का विशेष अंक प्रकाशित कर रहे हैं।

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों की अगली कड़ी है। इन दोनों सम्मेलनों में पारित किये गये प्रस्तावों को ठोस स्वरूप देने के साथ-साथ इसमें विश्व मंच से हिन्दी के सर्वांगीण विकास की संभावनाओं पर गहराई से विचार-विमर्श होगा।

प्रथम सम्मेलन का आयोजन राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा स्थापित राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के तत्वाधान में हुआ था। हिन्दी को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समुचित प्रधानता दिलाने में प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन सम्मेलनों में जो बड़ी महत्वपूर्ण बातें उभर कर आई हैं उनमें राष्ट्रसंघ में हिन्दी को एक माध्यम भाषा के रूप में लाने का प्रस्ताव सर्वमान्य हुआ है। इसके अतिरिक्त विदेशों की आवश्यकताओं के अनुरूप एक अध्ययन-अध्यापन और अनुसंधान करनेवाला 'विश्व हिन्दी विद्यापीठ' स्थापित करने का विचार सम्मेलनों का दूसरा महत्वपूर्ण निष्कर्ष रहा है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा 'विश्व हिन्दी विद्यापीठ' की नींव डाली गई है और उसे विस्तृत रूप देने के लिए एक बृहद योजना भारत सरकार के पास मान्यता के लिए भेजी गई है।

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन प्रथम और द्वितीय सम्मेलनों की उपलब्धियों को ठोस स्वरूप देने के साथ-साथ हिन्दी के लिए स्थायी विश्व मंच उपलब्ध कराने की दृष्टि से प्रभास होगा।

मैं आशा करता हूँ कि 'आजकल' का यह विशेषांक सम्मेलनों के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में योगदान देगा।

(मधुकर राव चौधरी)

कार्याध्यक्ष

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन



हिन्दी : अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप

सन् 1976 में मारीशस में सम्पन्न हुए द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के एक परिसंवाद में भाषण करते हुए स्व० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रफुल्लित होकर कहा था, “सारे संसार के मनीषी यहां एकत्र हुए हैं और हिन्दी के प्रति अपने प्रेम की चर्चा कर रहे हैं। आपने तो सिर्फ एक सूर्य देखा था— मुझे दो सूर्य दिखाई दे रहे हैं—मारीशस देश का सूर्य और विश्व हिन्दी सम्मेलन का सूर्य। दोनों ही छोटे दिखाई दे रहे हैं लेकिन दोनों की अपार सम्भावनाएं हैं।”

स्व० आचार्य जी ने हिन्दी के निरन्तर निखरते हुए अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप तथा नागपुर और मारीशस में सम्पन्न हुए विश्व हिन्दी सम्मेलन के अधिवेशनों की सफलता से प्रभावित होकर ही हिन्दी और इस संस्था की “अपार” सम्भावनाओं के प्रति अपनी आस्था उपरोक्त शब्दों में व्यक्त की थी। अब जब हिन्दी अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इतनी प्रगति कर चुकी है कि विश्व के 100 से भी अधिक विश्वविद्यालयों में इसके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हो चुकी है तथा अनेक विदेशी विद्वान और साहित्यकार इसके साहित्य की समृद्धि में अपना हार्दिक योगदान कर रहे हैं, यह किसी को बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि तीसरी दुनिया का नेतृत्व करने वाले इस विशाल देश की राजभाषा को, जिसे विश्व की तीसरी बड़ी भाषा होने का गौरव प्राप्त है, संयुक्त राष्ट्र संघ की एक आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त होनी ही चाहिए। हिन्दी इस सम्मान की अधिकारणी इसलिए भी है कि भारत के अतिरिक्त जिन देशों में यह फैलती जा रही है, उनमें अनेक देश ऐसे भी हैं जिनके पूर्वजों की भाषा हिंदी रही है और जो हिन्दी और अपने पूर्वजों के देश भारत की संस्कृति को अब भी अपने सीने से चिपकाये हुए हैं, जिनके मन में हिन्दी के प्रति ममता भारत की अपेक्षा किसी भी प्रकार कम नहीं है।

परन्तु इस संबंध में कुछ जिम्मेदारियां भी हैं जो हिन्दी को यह अधिकार मिलने के पहले पूरी होनी हैं और जिन्हें स्वयं हिन्दी भाषियों और हिन्दी प्रेमियों को पूरा करना है। हिन्दी को यह अधिकार प्राप्त हो, इसके लिए पर्याप्त योग्य अनुवादकों और दुभाषियों को तैयार करना जरूरी है। इस उत्तरदायित्व के प्रति सम्मेलन जागरूक तो है परन्तु इस सम्बन्ध में अभी कोई विशेष प्रगति नहीं हो पायी है। आशा है, दिल्ली अधिवेशन में सम्मेलन इस दिशा में अपनी सचेष्टता दिखायेगा और उपयुक्त निर्णय लेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता तो अब समय की बात रह गयी है। इसे अधिक दिनों तक टाला

नहीं जा सकता। लेकिन एक और चीज जो जरूरी लगती है वह यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए भारतीय प्रतिनिधियों का चुनाव करते समय उनकी हिन्दी बोलने और समझने की योग्यता पर भी अवश्य ध्यान दिया जाये। अभी जो स्थिति है वह इस दृष्टि से अत्यन्त असंतोषजनक है। या तो हमारे प्रतिनिधियों में हिन्दी में अपने विचार प्रकट करने की योग्यता ही नहीं होती या वे अंग्रेजियत के मोह से इस प्रकार ग्रस्त होते हैं कि उन्हें लगता है कि हिन्दी में अभी वह क्षमता नहीं आ पायी है कि उसमें जटिल विषयों को सार्थक रूप से अभिव्यक्त किया जा सके। यदि अभी से इस दिशा में ध्यान नहीं दिया गया तो ऐसा भी दिन आ सकता है कि जब हिन्दी को मान्यता तो प्राप्त हो जाये लेकिन राष्ट्रसंघ में इस भाषा में विचार प्रकट करने वालों की ही कमी अनुभव की जाये। इस संबंध में मारीशस अधिवेशन के संयोजक श्री सोमदत्त बखीरी के विचार याद आते हैं, जिन्होंने कहा था “आज हिन्दी को राष्ट्र संघ तक ले जाने की बात सोचता हूं तो सोचता ही रह जाता हूं कि जिस दिन वहां हिन्दी आसीन होगी तो वहां कौन उसका स्वागत करेगा। जब शिकायत आज इस बात की है कि भारतीय दूतावासों में हिन्दी बोलने वाले कम नज़र आते हैं तब मैं अपने आप से पूछता हूं कि राष्ट्र मंच में कौन हिन्दी बोलेगा, जब तक घर में दिया नहीं जलता तब तक मस्जिद में जलाने से क्या होगा?” श्री बखीरी ने अपनी इस उक्ति से हमारी दुखती रग को पकड़ा है जो भारत में हिन्दी की असंतोषजनक स्थिति की ओर इंगित करती है; इसकी ओर ध्यान दिया जाना और इसके लिए सरकारी और गैर सरकारी दोनों स्तरों पर अब तक जो प्रयत्न किये जाते रहे हैं उनमें और तेजी लाना अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन इन प्रयत्नों में तेजी लाते समय हमें देश की अन्य भाषाओं की गरिमा का भी हमेशा ध्यान रखना है जिससे हिंदीतर भाषा-भाषी क्षेत्रों के लोगों को स्वप्न में भी यह महसूस न हो कि हिन्दी उन पर किसी भी प्रकार थोपी जा रही है। सरकार इस मामले में अत्यन्त सतर्क रही है जा बड़ा शुभ लक्षण, है यद्यपि संभवतः, इसी कारण आजादी के 36 वर्षों बाद भी हिन्दी सरकारी कार्यालयों में उतनी लोकप्रिय नहीं हो पायी है जितनी होनी चाहिए। चाहे सरकारी क्षेत्र में हो या गैर सरकारी, हिन्दी की धीमी प्रगति का एक बड़ा कारण यह भी है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी अंग्रेजी और अंग्रेजियत का भूत हमारे सिर से उतरा नहीं है बल्कि दिनों-दिन अपना आसन और कड़ा किये जा रहा है। कुछ इस कदर हावी हो रही है हम पर अंग्रेजियत कि जो लोग हिन्दी समर्थक होने का

(शेष पृष्ठ 10 पर)

भारत की भावात्मक एकता और राजभाषा

भारत एक भौगोलिक इकाई है। उत्तर में हिमालय और दक्षिण में सागर से घिरे इस क्षेत्रफल में जो लोग रहते हैं, वे सब भारतीय हैं—फिर चाहे वे किसी भी धर्म, जाति या भाषा के क्यों न हों। भारत कभी पूर्णतः एक सम्राट के शासकीय प्रभुत्व में नहीं रहा। लेकिन अशोक, समुद्रगुप्त और अकबर के काल में बहुत-कुछ इसके निकट पहुंच गया था। ब्रिटिश सरकार ने समस्त भारत को शासकीय ऐक्य प्रदान किया। आज हमारा प्रजातंत्र कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से आसाम तक फैला हुआ है। शताब्दियों से भारत की एकता लोगों का आदर्श रही है।

इस उपखंड पर अनेक विदेशी दंड-यात्राएं चलीं, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा में विदेशी शासकों ने यहां की जनता पर असहनीय अत्याचार किया और नानाप्रकार के प्रलोभन दिखाये। लेकिन उनके सारे प्रयास यहां की मूलभूत वैचारिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक सघनता को पिघलाने में नकामयाब रहे। प्रत्युत जो भी विदेशी जातियां भारत के अंदर प्रविष्ट हुईं, भारतीयता की रंगत में रम गयी हैं।

हजारों वर्षों के सह-जीवन ने हमें एक शक्तिशाली सांस्कृतिक-इकाई के रूप में परिणत किया है। इस उपखंड में एक ही धर्म के अनेक शाखाओं और प्राशाखाओं के रूप में धार्मिक आंदोलन चल पड़े। समय समय पर युगांतरकारी महा-पुरुष उत्पन्न हुए। एक हजार वर्ष के पूर्व स्वामी शंकराचार्य ने देश की चार सरहदों में अपने पीठ स्थापित कर भारत की एकता एवं अखंडता का स्मरण दिलाया था—उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में शृंगेरी, पश्चिम में द्वारका और पूरब में पुरी। कहा जाता है, आज भी बद्रीनाथ का पौरोहित्य सुदूर दक्षिण से कन्याकुमारी का निवासी करता है और रामेश्वरम् का पौरोहित्य उत्तर के निवासी द्वारा कराया जाता है।

भारतीय भाषाओं की सारूप्यता

यह सभी जानते हैं कि संस्कृत भाषा भारतीय-संस्कृति की कुंजी है जो सभी भारतीय-भाषाओं के लिए मातृ-तुल्य है। इसी भाषा के माध्यम से प्राचीन राजाओं ने अपनी प्रभुसत्ता को संभाला, इसने विभिन्न प्रदेशों के विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों के लिए अपने ज्ञान एवं विद्वत्ता के आदान-प्रदान की योग्य संवाहिका के रूप में काम किया था। रामायण, महाभारत, भागवत, वेद, पुराण आदि प्राचीन ग्रंथ जो हमारे धार्मिक, वैचारिक एवं सांस्कृतिक संपत्ति हैं, संस्कृत से ही सभी भारतीय भाषाओं में स्वेच्छापूर्वक रूपांतरित हुए हैं। इस तरह आर्य-संस्कृति एवं कलाओं की पवित्र सलिल धाराएं संस्कृत के माध्यम से हिमालय

से लेकर कन्याकुमारी तक बह निकलीं।

यदि हम अपनी आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरफ देखें तो पता चलेगा कि वे एक दूसरे से कितना निकट और सीखने में कितना आसान हैं दक्षिण और उत्तर की भाषाओं में व्याकरण-संबंधी भिन्नता को छोड़कर भारत के किसी भी दो प्रदेशों की प्रादेशिक भाषाओं के मुहावरों व कहावतों में भी काफी समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसके अलावा एक और सहूलियत यह भी है कि सभी भारतीय भाषाएं संस्कृत शब्द-गर्भित हैं।

पाश्चात्यों का प्रभाव :—

करीब आठ सौ वर्षों के विदेशी मुसलमानों के प्रशासन में भारत की जनता को कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा, फिर भी सामाजिक व्यवस्था जैसी की तैसी रही। लेकिन डेढ़ सौ वर्ष के अंग्रेजों के प्रशासन में भारत की मूलभूत सामाजिक व्यवस्था

पी०वी० नरसा रेड्डी

तहस-नहस हो गयी। अंग्रेज शासकों ने प्राचीन प्रशासनिक प्रणाली को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने ही ढंग की प्रणाली अपनायी। स्कूल और कालेज खोलकर अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार जोर-शोर से किया। जो लोग अंग्रेजी में शिक्षित हुए, उन्हें क्लर्की, प्रशासनिक उपाधियां मिलने लगीं। जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर ली समाज में उन लोगों की भौतिक संपत्ति एवं प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। अंग्रेजी स्कूलों के अध्यापक, एलोपैथी चिकित्सक, वकील, इंजीनियर, प्रशासक-वर्ग समाज के विशिष्ट वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित हुए। अंग्रेजी शिक्षा के अभाव में संस्कृत, फारसी और प्रादेशिक-भाषाओं के महान विद्वान भी अशिक्षित निरुपित हुए।

इस तरह अंग्रेजी भाषा का अध्ययन उपाधि और प्रतिष्ठा की चीज बन गया। अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन के कारण लोग पाश्चात्य देशों की प्रजातंत्रात्मक-प्रणाली और आधुनिक विज्ञान से परिचित एवं प्रभावित होने लगे। अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भारत में भी रेल, तार, तमाचार-पत्र, कपड़े के मिल आदि वैज्ञानिक उपकरणों का आरंभ किया। यातायात और संचार-साधनों के साथ अंग्रेजी भाषा सभी प्रदेशवासियों की संपर्क-भाषा बनी। जिससे आपसी संबंध सुदृढ़ होने लगे। शोषित और पीड़ित जनता के मन में राष्ट्रीयभावना के साथ राष्ट्रभाषा की कल्पना भी उभरने लगी। इस दिशा में हिंदी प्रदेशवासियों से कहीं आगे बढ़ कर हिंदीतर क्षेत्रों के निवासियों ने हिंदी हिंदुस्तानी या उर्दू को सार्वदेशिक संपर्क भाषा के रूप में विकसित करने के

लिए काफी प्रयत्न किया। 19 वीं शती के आरम्भ से बंगाली भाषी राजाराम मोहनराय, केशवचन्द्र सेन, श्यामसुन्दर सेन, अमृतलाल चक्रवर्ती, जस्टिस शारदा चरण मिश्र, मराठी भाषी गोविन्द रघुनाथ धत्ते, साखाराम गणेश देउस्कर, बाबूराव विष्णु पराङ्कर, बालगंगाधर तिलक, लक्ष्मीनारायण गर्दे, गुजराती के स्वामी दयानन्द सरस्वती, मुंशी सदासुखलाल, केशवराय भट्ट, महात्मा गांधी आदि अनेक हिंदीतर भाषी महापुरुषों ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास एवं लोकप्रियता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत किया है।

भारत की राजभाषा

भाषा केवल विचार-विनिमय का साधन ही नहीं, समूची जाति के धर्म, शिक्षा, संस्कृति का सर्वांगीण भंडार भी है। भारत के संविधान द्वारा घोषित सभी प्रादेशिक भाषाएं साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अलग-अलग अस्तित्व रखती हैं। इस बहु-भाषी भारत को आस में मिलानेवाले सूत्र के रूप में हिन्दी को संविधान के द्वारा राजभाषा का स्थान प्राप्त हुआ है। भाषावार प्रदेशों के निर्माण के बाद यह और भी स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय-साहित्य का सवाल अकेले किसी एक भाषा के साथ नहीं बल्कि सभी भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान, एवं प्रगतिपूर्ण सामूहिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। दक्षिण के गणमान्य हिंदी प्रचारक एवं विद्वान मोटारि सत्यनारायण जी के शब्दों में—“हिन्दी राजभाषा या राष्ट्रभाषा इसलिए नहीं है कि वह किसी-खास भू-भाग से संबंधित है बल्कि इसलिए है कि वह सभी प्रादेशिक भाषाओं की राष्ट्र-वाणी होगी ताकि वह सभी भाषा-भाषियों की बन सके और वे सब उसके बन सकें।”

इस बात से भी हमें जागरूक रहना चाहिए कि हिन्दी को राष्ट्र या राजभाषा के संवैधानिक रूप देने मात्र से न लोगों का हृदय परिवर्तन हो जाता है और न ही उस भाषा के प्रति अकस्मात् प्रेम या द्वेष उत्पन्न हो जाता है। जब किसी एक भाषा को राजभाषा या राष्ट्र भाषा का पद प्राप्त होता है तो उसका दायित्व बढ़ जाता है, उसकी परिधि प्रादेशिक से उठकर सार्वदेशिक बन जाती है और उसे हर कदम फूंक फूंक कर चलना पड़ता है। साथ ही राजभाषा होने के नाते उसके लिए अनेक पहलुओं और कर्तव्यों को सफलतापूर्वक निभाने की क्षमता आवश्यक होती है, क्योंकि राष्ट्रीय विकास, राष्ट्रीय-संस्कृति और राष्ट्रीय एकता उस भाषा के साथ जुड़े हुए हैं। आधुनिक युग की आवश्यकताओं (प्रशासनिक, औद्योगिक, वैचारिक आदि) को दृष्टि में रखकर राज भाषा को अन्य विकसित राष्ट्रभाषाओं (अंग्रेजी, रूसी, फ्रेंच आदि) के समतुल्य विकासोन्मुख बनाने की भी आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में आचार्य क० म० मुन्शी जी के शब्दों का पुनश्चरण कर लेने की आवश्यकता मालूम पड़ती है—“भाषा कभी भी किसी अध्यापक, प्रचारक या राजनीतिज्ञ, प्रशासक या विद्वान एवं भाषा-वैज्ञानिकों के प्रयत्न से नहीं बनती। भाषा को जनता बनाती है और साहित्य-

कार और प्रचार साधन उस भाषा को एकरूपता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं। लेकिन जहां तक उच्च-शिक्षा और गहन वैचारिक धरातल का संबंध है, दैनोदिन व्यावहारिक आवश्यकताओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति के निरंतर समन्वयन से भाषा बनती है।”

प्रशासनिक भाषा

जिस देश की आबादी में 70 प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं और करीब 5 प्रतिशत लोग ही अपनी मातृभाषा के सिवा अन्य भाषाएं जानते हैं, उस देश में एक विदेशी भाषा के माध्यम से शासन चलाना कहां तक उचित है? स्वतंत्रता प्राप्ति के 35 वर्ष के बाद भी हम अपनी भाषाओं के माध्यम से शासन का काम-काज नहीं कर पा रहे हैं। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के शासन-काल में भी अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारियों के लिए यहां की प्रादेशिक भाषाओं का ज्ञान अत्यावश्यक समझा जाता था। उन्हें प्रादेशिक-भाषाओं की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ता था। लेकिन स्वतंत्र-भारत का प्रशासक आज अंग्रेजी के बल पर किसी भी प्रदेश में शासन कर सकता है, चाहे वह उस प्रदेश की भाषा का नाम तक न जानता हो। अतः सरकार का यह नियम होना चाहिए कि यदि जिन अधिकारियों की नियुक्ति किसी प्रदेश-विदेश में होती है तो वे वहां की जन-भाषा सीख लें, ताकि उन लोगों की समस्याओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकें। वास्तव में यदि हमारा शासन जन-शासन हो तो हमें जन-भाषा के माध्यम से ही शासन चलाना चाहिए, इससे जनता और जन-सेवक दोनों को सुविधा होगी। यदि शिक्षा का माध्यम जन-भाषा को बना दिया गया तो शिक्षित वर्ग को प्रशासन में उस भाषा का प्रयोग करने में सुविधा हो जायेगी शासन का कार्य मौलिक रूप से जन-भाषा के माध्यम से चल पायेगा। इसलिए जब तक शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को यथेष्ट महत्व नहीं दिया जाता तब तक प्रशासन को जनभाषा के माध्यम से चलाना आसान नहीं है। संविधान में हिन्दी को राष्ट्र की राजभाषा अवश्य घोषित किया गया है और विभिन्न राज्यों में भी इसी प्रकार क्षेत्रीय भाषाओं को राजभाषा स्वीकार किया गया है। लेकिन सरकारी काम काज में इन भाषाओं का प्रयोग केवल अनुवाद के माध्यम से ही हो रहा है।

प्रशासनिक-परीक्षाओं का भारतीयकरण

यह प्रसन्नता की बात है कि सन् 1979 से लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में हिन्दी के साथ संविधान में उल्लिखित सभी भारतीय भाषाओं में लिखने की सुविधा मिली है। अब डा० कोठारी आयोग की सिफारिश के अनुरूप सभी विषयों के प्रश्न-पत्रों का उत्तर अंग्रेजी के अलावा हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से देने की पूरी छूट है। इसके पूर्व केवल निबंध और सामान्य ज्ञान—दो ही विषयों तक यह छूट सीमित थी। इस नयी योजना

के अनुसार प्रत्येक उम्मीदवार को संविधान की 8 वीं अनुसूची में उल्लिखित किसी न किसी भारतीय भाषा में एक अनिवार्य प्रश्न-पत्र में भी उत्तीर्ण होना है। इस से कम से कम उन उम्मीदवारों का मन संतुष्ट हो जाता है जो विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा ग्रहण कर लेने के कारण जो लोग हीनभावना से ग्रसित हैं, उनका कुछ स्वाभिमान भी बढ़ जाता है। भारतीय भाषाओं के माध्यम से इन परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले उम्मीदवारों की एक और जटिल समस्या है, पठन-पाठन सामग्री का अभाव। हिंदी के सिवा अन्य भारतीय भाषाओं में विज्ञान एवं समाज-शास्त्रों के ग्रंथों का अभाव एक तीव्र समस्या है। परिणामस्वरूप, भारतीय-भाषाओं में परीक्षा देने के इच्छुक उम्मीदवारों को भी विवश होकर अंग्रेजी में परीक्षा देनी पड़ती है। यह ध्यान देने की बात है कि आज भारतीय भाषाओं में परीक्षा देने वाले उम्मीदवारों में 80 प्रतिशत से अधिक हिन्दी भाषा में ही परीक्षा दे रहे हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि उच्च-शिक्षा एवं अध्ययन संबंधी पठन-पाठन सामग्री अन्य भारतीय भाषाओं में से अधिक मात्रा में हिंदी भाषा में ही उपलब्ध है। इसलिए यदि प्रादेशिक सरकारों के साथ साथ केंद्र सरकार भी शिक्षा-संस्थाओं एवं विश्व-विद्यालयों के लिए आवश्यक पठन-पाठन सामग्री का लेखन तीव्र-गति से सभी भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराने की व्यवस्था करे तो तभी उक्त परीक्षा-प्रणाली के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। अन्यथा हिंदीतर भाषी उम्मीदवारों के मन में कुछ आशंकाएं उत्पन्न हो जाने की संभावना है। साथ ही इन परीक्षाओं के आयोजक अधिकारी यह भी सोच लें कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से परीक्षा देने वाले उम्मीदवारों को कुछ रियायती अंक भी दिये जायें जिस से भारतीय भाषाओं को आत्म सम्मान मिल सके।

पारिभाषिक शब्द-कोशों का निर्माण:

पारिभाषिक शब्दों की अनिवार्य आवश्यकता आधुनिक युग की देन कही जा सकती है। यदि हम उच्च शिक्षा, आधुनिक विषयों एवं वैज्ञानिक-शोध को अपनी भाषाओं के द्वारा विश्व के अन्य विकसित राष्ट्रों के समतुल्य निरन्तर आगे बढ़ाना चाहें तो ज्ञान-विज्ञान से सम्बंधित विविध विषयों के पारिभाषिक-शब्दकोशों का निर्माण कर लेने की आवश्यकता है। आज इन शब्द-कोशों का निर्माण सभी भारतीय भाषियों के लिए एक जटिल समस्या बन गया है खेद की बात है कि किसी भी भाषा की किसी संस्था ने सारे राष्ट्र को दृष्टि में रखकर पारिभाषिक-शब्दावली गढ़ने का ठोस प्रयत्न नहीं किया है। हिन्दी भाषी सात राज्य सरकारों के अलावा केंद्र सरकार के विविध मंत्रालयों से अनुबन्धित संस्थाएं और अनेक विश्वविद्यालय भी विविध पारिभाषिक-शब्दकोशों के निर्माण में लगे हुए हैं, लेकिन इन

परियोजनाओं के अंतर्गत कोई संयोजन नहीं है। इस से कार्य में दुहरापन, धन और समय का अपव्यय ही होता है। इसके लिए सारे राष्ट्र के लिए कोई एक आयोजन, अनुमोदन एवं पर्यवेक्षण संस्था की आवश्यकता मालूम पड़ती है।

अनेक अनुभवी विद्वानों का मत है कि तकनीकी शब्द जो भारत भर में अंग्रेजी के अनुनित्य व्यवहृत किये जा रहे हैं और जो अन्तर्राष्ट्रीय-व्यवहार से सम्बन्ध हैं, उन शब्दों का प्रति-स्थापन (रिप्लेसमेंट) हानिकारक है, चाहे वह सम्भव भी हो। यदि हिन्दी आधुनिक भाषा है तो अंग्रेजी या अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी शब्दों को यथावत् या सुलभ-ग्राह्य भारतीय रूप में अपना लेना चाहिए। शब्द-कोश सभी भारतीय भाषा-भाषियों के लिए सुलभ-ग्राह्य एवं स्वीकार्य भी हो सकते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप उच्च-शिक्षा के अध्ययन एवं शोध की दिशा में राष्ट्र भर में एकरूपता एवं सारूप्यता लाने में आसानी होगी। साथ ही यह अन्तर्राष्ट्रीय-शब्दावली भारतीय छात्र एवं शोधार्थियों को विदेश जाकर अध्ययन करने में और देश-विदेश के वैज्ञानिकों, चितकों के साथ आपस में विचार-विमर्श करने के लिए भी सुलभ होती है। इस संदर्भ में पं० जवाहरलाल नेहरू जी के विचार स्मरणीय हैं —

हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली : “मुझे इसके बारे में जानकर प्रसन्नता हुई है लेकिन यह मेरी चेतावनी है कि पारिभाषिक शब्द इस प्रकार न गढ़े जाएं जिससे सामान्य आदमी उन्हें समझ ही न सके। इन दिनों ऐसा ह्मन बहुत देखा जाता है। जहां तक मैं समझता हूं विदेशी भाषाओं के जो शब्द इस देश में प्रचलित हो गए हैं उनको अपना लेना चाहिए। इसलिए कि ये शब्द प्रचलित हो गए हैं और इसलिए भी कि वैज्ञानिक अन्य एवं विषयों में जितने भी समान शब्द रहें उतना ही दुनिया के लिए अच्छा है।”

उच्च-शिक्षा एवं शोध-कार्य

भारत की संस्कृति बहुत प्राचीन एवं सुसंपन्न है। फिर भी आज तकनीकी और शैक्षणिक-क्षेत्रों की जानकारी के अभाव में हमें पश्चिम की ओर ताकना पड़ रहा है। भारतीय भाषाओं में आधुनिक विज्ञान, तकनीकी एवं सामाजिक शास्त्रों से संबंधित सामग्री की कमी है। साथ ही जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उसकी जानकारी के लिए और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम योग्य संदर्भ-साधनों (रिफरेंस टूल्स) का निर्माण भी नहीं कर सके हैं। कृषि-विज्ञान, सिंचाई, डयरी आदि क्षेत्रों में गणनीय जानकारी प्राप्त होते हुए भी विशेषज्ञ एवं अशिक्षित-व्यवसायी (किसान कारीगर आदि) के बीच में कोई अच्छा सम्पर्क-सूत्र नहीं है। फलतः राष्ट्रीय-योजनाओं का फल अपेक्षित मात्रा में हमें प्राप्त नहीं हो रहा है। इस खाई को पाटने के लिए प्रादेशिक भाषाओं को उच्च-शिक्षा के माध्यम के रूप में रूपायित करना अनिवार्य है।

आज कुछ विश्वविद्यालय भारतीय भाषाओं के माध्यम से विज्ञान के विषयों में भी स्नातकोत्तर कक्षाएँ चला रहे हैं। आवश्यक संदर्भ ग्रन्थों के अभाव में छात्र एवं शोधार्थियों को अंग्रेजी भाषा पर निर्भर करना पड़ता है। विषयवार ग्रन्थ-सूचियाँ (सब्जेक्ट बिब्लियोग्राफी), विषयवार विश्वकोश, जीवनी कोश (बायोग्राफिकल डिक्शनरीज), डाइरेक्टरीज, हैण्ड-बुक, डाटा प्रासेसिंग, एक्स्ट्रैक्टिंग, इंडेक्सिंग, वैज्ञानिक पत्र पत्रिकाएँ आदि ऐसे संदर्भ साधन हैं, जिनके अभाव में उच्च-शिक्षा एवं शोध-कार्य की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में हम पिछड़ जायेंगे। वैज्ञानिक दृष्टि अपनाकर भारतीय भाषाओं में उक्त सामग्री को प्रकाशित कर लेना चाहिए। निरन्तर प्रयास से ही यह कार्य साध्य हो सकता है।

भारत में प्रकाशित अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं की सामग्री को 'इंडेक्स इंडिया', राजस्थान विश्वविद्यालय, इन्सडाक (INSDOC) दिल्ली आदि संस्थाएँ वैज्ञानिक ढंग से सूची-बद्ध कर नियमित रूप से उन सूची-पत्रों को प्रकाशित कर रही हैं। लेकिन इस तरह का प्रयत्न देशी भाषाओं में क्यों नहीं कर सकते? केवल हिन्दी में ही 12 हजार पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। विषय की विविधता है, वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ है। अतः हिन्दी में प्रकाशित होने वाले पत्र-साहित्य को वैज्ञानिक ढंग से और नियमित रूप से प्रकाशित करने की आवश्यकता है जिससे कम से कम अपनी देशी समस्याओं के संबंध में अध्ययन एवं शोध करते समय शोधार्थी इस साहित्य का भी पूरा पूरा लाभ उठा सकें। परिणामस्वरूप शोध-कार्य में शीघ्रता, सुलभता और संपूर्णता आ सकती है।

शिक्षा-संस्थाओं में सुविधाओं का अभाव

इस देश की विडंबना यही है कि रूस, इंग्लैंड, अमेरिका आदि के विदेशी छात्र एवं छात्राएँ दक्षिण भारत के विश्वविद्यालयों में पहुँचकर तेलुगु, तमिल, मलयालम भाषाओं का अध्ययन एवं शोध करते हैं, लेकिन उत्तर भारत के हिन्दी भाषी छात्र या पंजाबी छात्र यहां की भाषा एवं साहित्य के अध्ययनार्थ कभी नहीं पहुँचते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार और शिक्षाविद, देशी-भाषाओं का कितना आदर और सत्कार करते हैं। इस संदर्भ में साहित्यकार प्रेमचन्द के ये विचार आज भी वंदनीय हैं—“क्या यह खेद की बात नहीं है कि हम दोनों, जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर हैं? यूरोपियन विद्वानों को देखिए। उन्होंने हिन्दुस्तान के मुतल्लिक हरेक मुमकिन विषय पर तहकीकात की हैं, पुस्तकें लिखी हैं, वह हमें उससे ज्यादा जानते हैं जितना हम अपने को जानते हैं। इसके विपरीत हम एक दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही में मग्न हैं। साहित्य में जो सब से बड़ी

खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है।”—
कुछ विचार, पृ० 88-89।

दो या अधिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन करने के इच्छुक छात्रों एवं विद्वानों को कालेज, विश्वविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन की सुविधा के साथ आवश्यक प्रोत्साहन भी देना चाहिए। बहु भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन, क्षेत्र एवं आदान-प्रदान की भावना को बढ़ावा देने से राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल मिलता है और विभिन्न-भाषियों के बीच में सुहृदभावना बढ़ सकती है।

किसी भी भारतीय को हिन्दी के माध्यम से अन्य भारतीय भाषाओं का कम से कम काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त कराने के लिए आवश्यक पुस्तकें प्रकाशित की जानी चाहिए। एक प्रदेशवासी जब दूसरे प्रदेश में नौकरी या व्यापार करने जाते हैं तो अक्सर यह महसूस करते हैं कि टूटी-फूटी ही सही वहां की भाषा सीख लें। लेकिन स्वाध्याय के लिए आवश्यक पुस्तक सामग्री के अभाव में वह अपनी इच्छा को पूरा नहीं कर सकता। अब तक यहां की हिन्दी प्रचार संस्थाएँ तेलुगु, तमिल, मलयालम आदि भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सीखने के लिए आवश्यक व्याकरण, कोश, आदि पुस्तकें तैयार करती रहीं। लेकिन यह भी आवश्यक है कि हिन्दी के माध्यम से किसी भी भारतीय भाषा को आसानी से सीख सकें। इन संपर्क-मूर्तों की सहायता से विभिन्न भाषियों के बीच में सदभावना बढ़ सकती है और एक दूसरे को समझने का प्रयत्न हो सकता है। इस तरह बहु-भाषाओं को स्वयं सीख लेने की पुस्तक-सामग्री को कम दाम पर उपलब्ध कराना और भाषाओं में अध्ययन, लेखन के लिए सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रोत्साहन प्रदान करना आदि बातें भारत की भावात्मक एकता को सुदृढ़ बना सकती है।

हिन्दी की पत्र पत्रिकाएँ बिराट भारत का प्रतीक बनें

राष्ट्रभाषा हो या राजभाषा—किसी एक भूभाग या अकेले उसी भाषा साहित्य से जुड़ी नहीं रह सकती। जब तक हिन्दी भारत के सभी प्रदेशों के भाषा-साहित्य, समाज, संस्कृति को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकती तब तक वह सभी भाषियों के लिए मान्य नहीं हो सकती। आज हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ इस बात को बिलकुल भूल गयी हैं कि उन्हें बहु-भाषाओं, संस्कृतियों, भिन्न भिन्न प्रदेशवासियों के बीच में भावात्मक एकता को सुदृढ़ बनाने का परम कर्तव्य उन पर भी है।

इस संदर्भ में 50 वर्ष पूर्व राष्ट्रभाषा के उपासक प्रेमचन्द द्वारा संपादित 'हंस' पत्र की नीति को उन्हीं के शब्दों में पुनः स्मरण कर लेने की आवश्यकता मालूम पड़ती है: “अनुमान कीजिए कि कन्नड़, तमिल, तेलुगु, बंगाली, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि भाषाओं की सामग्री हिन्दी में उपलब्ध करने के लिए हमें कितना व्यय और कितना उद्योग करना पड़ा है और आगे

करना पड़ेगा। आप 'हंस' के द्वारा संपूर्ण भारत के साहित्य से परिचित हो जाएंगे। प्रांतीय साहित्यों में जो कुछ श्रेष्ठ और सुंदर है, वह आपको 'हंस' द्वारा प्राप्त हो जाएगा। उसके साथ ही यह पूर्ववत् हिंदी साहित्य की अनूठी रचनाएं भी आपको भेंट करता रहेगा। क्या यह खेद की बात नहीं है कि अभी तक हम प्रांतीय साहित्यों की प्रगति और उनकी मूल धाराओं से बेखबर हैं?" जब हम 'हंस' के पुराने अंक पलटेंगे तो प्रेमचन्द के मन में राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय-साहित्य और राष्ट्रीय-एकता को साधने में जो लालसा थी, और जो लगन थी बरबस स्पष्ट हो जाएगी आज भारत फिर ऐसे महान् साहित्यकार और संपादकों के लिए तरस रहा है।

उस समय हिन्दीतर भाषियों में राष्ट्र एवं राष्ट्रभाषा प्रमियों की कमी नहीं थी, लेकिन हिन्दीतर भाषी हिन्दी लेखकों और अनुवादकों की कमी थी। फलतः 'हंस' पत्र के लिए प्रादेशिक भाषा-साहित्यों को हिन्दी में प्राप्त कर लेने में अनेक कष्ट उठाना पड़ता था। लेकिन आज समय बदल गया है। अब किसी भी भारती भाषा साहित्य, समाज, संस्कृति से संबंधित छोटे या बड़े विषय पर हिन्दी में लेख, ग्रंथ, अनुदित रचना सुंदर ढंग से प्रस्तुत करने में समर्थ अनेक हिन्दीतर भाषी हिन्दी लेखक मौजूद हैं। फिर भी खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज सरकारी या गैर सरकारी पत्र पत्रिकाओं में न हिन्दीतर भाषी हिन्दी

लेखकों के लिए योग्य स्थान है और न ही हिन्दीतर प्रदेशों से संबंधित सामग्री को अपेक्षित मात्रा में प्रस्तुत किया गया है।

आज भाषा, प्रांत, धर्म और जातिवाद से खंडित भारत-वासियों के लिए 'राष्ट्रीयता के तात्पर्य' को स्पष्ट करने वाली महापुरुष प्रेमचन्द की निम्नलिखित बातें बारंबार स्मरण करने की आवश्यकता है—“कोई राष्ट्र केवल इसलिए राष्ट्र नहीं होता कि वह एक राज्य के अन्तर्गत है, बल्कि इसलिए भी कि उसमें सांस्कृतिक एकता और दृढ़ता है। लिपि भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है। हिन्दुस्तानी हमारी राष्ट्रभाषा स्थिर हो गयी है। अब साहित्य को भी हम प्रांतीयता के संकुचित क्षेत्र से निकाल कर राष्ट्रीयता के बृहद् क्षेत्र में लाकर सांस्कृतिक एकता में जो कसर थी उसे पूरा कर देना चाहते हैं। यह अध्यात्मिक और बौद्धिक धारा, जो इस समय संपूर्ण राष्ट्र में समान रूप से प्रवाहित हो रही है, भाषा-भेद से अवरुद्ध होकर रह जाती है और सम्पूर्ण राष्ट्र को उसकी जल-सुधा से लाभान्वित होने का अवसर नहीं मिलता। अगर भारत को अपनी राष्ट्रीयता संपूर्ण रीति से प्राप्त करनी है तो उसे भारतीय साहित्य का संगठन और प्रचार करना होगा।” □

—पी. वी. नरसा रेड्डी, एल. आइ. जी. 29, एम. वी. पालेम कालनी, विशाखापट्टनम—530 017

(सम्पादकीय का शेष)

दावा करते हैं वे भी अपने बच्चों को छोटी उम्र में ही पब्लिक स्कूलों में भेजकर जनका संस्कार भ्रष्ट कर रहे हैं। इन स्कूलों में हिन्दी और भारतीय रिवाजों और रहन सहन की जिस प्रकार उपेक्षा की जाती है वह सर्वविदित है। इस उपेक्षा के कारण जिन बच्चों के परिवार में हिन्दी बोली जाती है उनमें हीन भावना भर जाती है।

जहां तक दक्षिण की बात है हिन्दी की स्थिति वास्तव में उतनी बुरी नहीं है जितनी बताई जाती है। कहा जाता है तमिलनाडु में हिन्दी का विरोध सबसे अधिक है लेकिन यह विरोध केवल राजनीतिक स्तर पर ही है। “राष्ट्रभाषा प्रचार समिति” और “दक्षिणी भारत हिन्दी प्रचार सभा” जैसी संस्थाएं, जिन्होंने स्वातंत्र्य संग्राम के दिनों में हिन्दी प्रचार को एक राष्ट्रीय कार्य समझ कर अत्यन्त निष्ठापूर्वक इसका प्रचार किया, आज भी लगन से कार्य कर रही हैं और उनके निर्देशन में आज भी दक्षिणवासी अधिकाधिक संख्या में हिन्दी सीख रहे हैं। वास्तव में विरोधी भी मन ही मन यह समझते हैं कि यदि उन्हें केन्द्रीय सरकार में नौकरी करनी है तो उनके लिए हिन्दी सीखना जरूरी है। सच पूछें तो भाषा समस्या तथा देश की भावात्मक एकता को सुदृढ़ करने के लिए त्रिभाषा फार्मूला,

अपनी कमियों के बावजूद, बड़ा उपयोगी था और अब भी है। जबकि दक्षिण भारत में इस फार्मूले पर अमल हुआ हिन्दी क्षेत्रों ने इस ओर पूरा ध्यान नहीं दिया। यद्यपि बहुत देर हो चुकी है परन्तु अब भी यदि उत्तर भारतीय शिक्षा संस्थाएं इस ओर ध्यान दें तो यह बहुत बड़ी बात होगी।

हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप में और निखार लाने के लिए यह जरूरी है कि विदेशों में हिन्दी में जो साहित्य रचना अब तक होती आयी है और हो रही है, उसका इस देश में अधिकाधिक प्रसार करने के लिए प्रयत्न किये जाएं जिससे आदान-प्रदान की प्रक्रिया सही अर्थों में पूरी हो सके। विदेशी हिन्दी साहित्य सेवियों की यह स्वाभाविक आकांक्षा है कि उनके द्वारा रचित साहित्य को हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग माना जाए और भविष्य में जब कोई हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखे तब इस बात का उल्लेख करना न भूले कि भारत के बाहर किस प्रकार साहित्य सृजन हो रहा है। आज एशिया, यूरोप तथा पूर्वी यूरोप के कई देशों में हिन्दी में साहित्य-सृजन करने के अतिरिक्त, वहां के विद्वान और साहित्यकार, हिन्दी में उत्कृष्ट साहित्य का अपनी-अपनी भाषाओं में रूपांतरण कर रहे हैं। साहित्य के इतिहास-कारों से उनका भी सादर उल्लेख अपेक्षित है। □

बहु भाषा-भाषी विकासमान समाज में भाषा की भूमिका

★ प्रो० जी० सुंदर रेड्डी

भारत सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से विकासशील देश है। भाषा विकास तथा सामाजिक विकास अन्योन्नाश्रित हैं।

भारतीय समाज मूलतः बहुभाषी है। यह बहु-भाषिकता केवल शिष्ट-वर्ग तक ही सीमित नहीं रही है, वरन् जन-सामान्य के घरातल पर भी परिलक्षित है। यही व्यापक बहु-भाषिकता भारतीय-भाषा स्थिति की विशिष्टता है। आज हमारे देश में अनेक भाषाएं प्रचलित हैं। उन में से कुछ एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं तो अन्यो में पर्याप्त समानता है। किंतु ऐतिहासिक रूप में संपूर्ण भारत में कभी भी एक भाषा की व्याप्ति न रही थी और न आज है। इसी कारण भारत में भाषा की समस्या क्लिष्ट बनी हुई है। प्राचीन काल से आज तक भारत के शासकों की भाषाएं मुख्यतः संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी रही हैं। उक्त भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वान, कवि, विचारक हमारे देश में पैदा हुए हैं। आज भी उन भाषाओं के कुछ विख्यात विद्वान मौजूद हैं। किंतु उनकी संख्या न बढ़ सकी। यह सच है कि कितने ही भारतीयों ने उक्त भाषाओं में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया, सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक ग्रंथों की रचना की, लेकिन उनकी सारी रचनाएं पंडितों एवं विद्वानों तक ही सीमित रहीं। फारसी तो राज्य सत्ता से च्युत होने के कारण आज अजायबघर की वस्तु बन गयी। उसको बाहर से लानेवाले आगंतुक मुसलमानों ने भी उस भाषा को भूल कर यहां की एक भाषा 'उर्दू' को अपनी मातृभाषा बनाया। संस्कृत और अंग्रेजी आज भी हमारे लिए ज्ञान-विज्ञान का श्रोत बनी हुई हैं। उनकी सलिलधारा से आज भी हम अपने ज्ञान का संवर्धन कर रहे हैं। लेकिन उस धारा से हम अपनी जमीन को सरसब्ज एवं उपजाऊ नहीं बना पा रहे हैं। क्योंकि वे भाषाएं आज न तो हमारे सृजन-शील साहित्य के माध्यम बन सकती हैं न हमारे प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था का साधन।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान ने हिंदी को हिंदी प्रदेशों की राष्ट्रभाषा एवं सारे भारत की संपर्कभाषा के रूप में स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, हमारे संविधान ने यह भी घोषित कर दिया है कि इस देश का सारा शासन यहां की जनता की भाषाओं से चलेगा, वे ही भाषाएं यहां की शिक्षा का माध्यम बनेंगी और ज्ञान विज्ञान के लिए जो साहित्य रचा जाएगा वह भी उन्हीं भाषाओं में। हिंदी के राजभाषा के पद पर अधिष्ठित होने के पूर्व अंग्रेजी यहां की राजभाषा रही,

और आज भी उसी के द्वारा केंद्रीय एवं प्रादेशिक सरकारों के प्रशासनिक कार्यकलाप चल रहे हैं। संविधान के अनुसार आज भारत की राजभाषा हिंदी है और अंग्रेजी सहायक भाषा। यद्यपि आज कई कारणों से हिंदी को उतना महत्व नहीं मिल पा रहा है जितना उसके हक में है, फिर भी किसी न किसी दिन हिंदी के हमारे देश की राजभाषा, और संभवतः एकमात्र राजभाषा, बनने की संभावना है। इसलिए हिंदी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि विकसित एवं समृद्ध अंग्रेजी भाषा के स्थान को ग्रहण करने के लिए ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की सशक्त अभिव्यक्ति देनेवाली उस अंग्रेजी भाषा की अभिव्यंजनशक्ति को अर्जित करे।

भारतीय संविधान की भाषा-नीति के अनुसार भारत का दक्षिणी भाग (आंध्र, तमिल, कर्नाटक एवं केरल), पश्चिमी भाग के दो राज्य (महाराष्ट्र एवं गुजरात), पूर्व के तीन राज्य (बंगाल ओडीसा एवं असम) कुल 9 राज्य अपनी-अपनी भाषाओं को अपने राज्यों की राजभाषाएं घोषित कर चुके हैं और उन भाषाओं को राज्य के सभी कार्य-कलापों के लिए सशक्त बनाया जा रहा है। दूसरी तरफ उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश एवं दिल्ली—हिंदी राज्यों के क्षेत्र में शामिल हैं। और दो राज्यों की भाषाएं—पंजाबी और कश्मीरी जो हिंदी से मिलती-जुलती हैं, भाषाई क्षेत्र के अनुसार हिंदी से प्रभावित भूभाग के अंतर्गत आ जाते हैं। इस तरह भाषाई क्षेत्र के अनुसार भारत दो भागों में बंटा हुआ नजर आता है—एक तरफ हिंदी और हिंदी से प्रभावित क्षेत्र, दूसरी तरफ वे 9 राज्य जहां पर हिंदीतर भाषाएं प्रचलित हैं। यहां पर स्मरण रखने की बात यह है कि हिंदीतर भाषाओं का दूसरा भाग जो 9 भाषाओं में बंटा हुआ है उसका प्रत्येक अंग अपने-अपने भाषा क्षेत्र के चौखट में बंधा हुआ है।

आज कई प्रदेशों में अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम के स्थान से हटाई जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि अगले दस पंद्रह सालों में भारत में अंग्रेजी का उपयोग उसी मात्रा में होगा जिस मात्रा में आज रूस, चीन, जापान, आदि देशों में हो रहा है। इसका एकमात्र कारण है कि अंग्रेजों के राजसत्ता से निकल जाने के बाद अंग्रेजी भाषा की महत्ता भी घटती जा रही है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के साथ राजसत्ता का कितना गहरा संबंध रहा है।

कुछ लोगों का कहना है कि हिंदीतर भाषी क्षेत्रों में हिंदी वही स्थान लेने जा रही है जो इसके पूर्व अंग्रेजी का था। यह विचार निराधार एवं भ्रामक है। स्वतंत्रता के पूर्व अंग्रेजी क्षेत्रीय एवं केंद्रीय सभी जगह छाई हुई थी—हर जगह उसका प्रभुत्व था। किंतु आज अंग्रेजी के उस प्रभुत्व पर प्रादेशिक भाषाएं आक्रमण कर रही हैं। प्रादेशिक भाषाएं प्रदेश के सारे कार्यकलापों का एवं शिक्षा का माध्यम बन रही हैं। प्रजातंत्र की जड़ों को मजबूत बनाने के लिए हमारे लिए यह कदम बहुत आवश्यक है। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि प्रादेशिक भाषाओं को इतना महत्व दिया जाएगा तो हमारी सार्वदेशिक-भाषा, राजभाषा, हिंदी का क्या स्थान होगा? उसका स्वरूप क्या होगा?

भारत की सार्वदेशिक भाषा या संपर्क-भाषा संबंधी नीति निर्धारित करने के पूर्व यह विचार करना होगा कि संसार के अन्य बहु-भाषी राष्ट्रों के अनुभव से हम कहां तक लाभ उठा सकते हैं। आज संसार में चीन, रूस और अमेरिका बड़े राष्ट्र हैं। जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान है। किंतु चीन में भारत की तुलना में बहुत कम भाषाएं पायी जाती हैं और उन भाषाओं को बोलने-वालों की संख्या भी बहुत कम है। हमारे देश में मराठी, बंगला, तेलगु और तमिल बोलने वालों की संख्या इतनी बड़ी है कि हम उनकी तुलना अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच और इटालियन बोलने वालों से कर सकते हैं।

रूस एक ऐसा देश है जो बहु-भाषा भाषी माना जाता है। फिर रूस की जनसंख्या हमारे उत्तर भारत की जनसंख्या के बराबर है। रूसी भाषा के बाद रूस में उक्रेनियन सब से बड़ी भाषा है, जिसके बोलने-वालों की संख्या कन्नड़ बोलनेवालों के समान है। रूस की अन्य भाषाएं भारत की भाषाओं की तरह संपन्न एवं विकसित नहीं हैं। तब रूस और भारत की भाषा-समस्याओं के बीच मेल कैसे बैठ सकता है?

हां, अमेरिका का प्रश्न और है। वहां अंग्रेजी का होना एक ऐतिहासिक संयोग है। क्योंकि वहां के निवासी योरोप और अफ्रिका के भिन्न-भिन्न देशों से भिन्न-भिन्न भाषाएं अपने साथ लेकर गये थे। किंतु अंग्रेजी के अतिरिक्त और कोई भी भाषा वहां पर पनप न सकी। क्योंकि अंग्रेजी वहां के शासकों की भाषा रही। इतना ही नहीं अमेरिका रकवे में भारत से लगभग तिगुना है। किंतु वहां की आबादी भारत की आबादी का 40 प्रतिशत है। अमेरिका में अंग्रेजी के अलावा और ऐसी किसी भाषा का अस्तित्व नहीं पाया जाता है जो उल्लेखनीय है। ये सब ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर हम न तो अपने देश की किसी दूसरे देश से तुलना कर सकते हैं और न ही उनके प्रयोग, अनुभव, एवं परिष्कारों से लाभ उठा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार के अन्य देशों की समस्याओं से हमारे देश की भाषाई-समस्याएं

बिल्कुल भिन्न हैं। हमारे देश की समस्याएं अनोखी हैं। उनके समाधान के लिए हमें एक अनोखा एवं व्यावहारिक माग अपनाना होगा।

जहां तक हिंदी प्रदेशों की बात है वहां पर हिंदी में ही सब कुछ हो रहा है। हिंदी ही स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षा का माध्यम है। क्योंकि उस भूभाग की भाषा हिंदी ही है। लेकिन हिंदीतर प्रदेशों में आज भी अधिकतर स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। किंतु हिंदीतर प्रदेशों की सभी राज्य सरकारों ने निर्द्वंद्व रूप से घोषित कर दिया है। कि वहां की प्रादेशिक भाषाएं ही हाई स्कूल से लेकर विश्व-विद्यालयों तक शिक्षा का माध्यम बनेंगी। इस दिशा में वे राज्य आवश्यक योजनाएं बनाकर उनको अमल में लाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस लिए अंग्रेजी के सार्वदेशिक व्यवहार का यह खोखला आधार और ज्यादा समय तक बना नहीं रह सकता। वह भाषा भी आज धीरे-धीरे देश की जनता और जनपदों से हटती जा रही है। इसलिए शिक्षा माध्यम के पद से वह अनतिकाल में हटायी जाएगी। किंतु आज यह संभव प्रतीत नहीं होता कि हिंदीतर प्रदेशों में अंग्रेजी की तरह सार्वजनिक कलापों के लिए हिंदी का उपयोग किया जाय और वहां की शिक्षा का माध्यम बनाया जाए। क्योंकि आज प्रादेशिक भाषाओं को इतना महत्व दिया जा रहा है कि सार्वजनिक कलापों और शिक्षा-माध्यम से उन्हें वंचित रखना संभव नहीं है। आज यह भी संभव प्रतीत नहीं होता कि प्रादेशिक और सार्वदेशिक—दोनों भाषा-माध्यमों द्वारा शिक्षा प्रबंध किया जाय। यह भी बिल्कुल संभव प्रतीत नहीं होता कि आजकल की तरह अंग्रेजी का स्थान यथावत् बनाए रखा जाय। अब तक इस भाषाई समस्या को हमारे राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक नेताओं ने अपनी राजनीति का अंग बना रखा है। इसलिए सार्वदेशिकता को दृष्टि में रख कर भाषा की नीति का परिष्कार नहीं कर पा रहे हैं और हमारे शिक्षाविद् अपने नेता एवं अधिकारियों का समर्थन करते हुए अपने व्यक्तित्व की गरिमा को खो रहे हैं।

यह सच है कि गांधी की आंधी से प्रभावित होकर पिछले 50-60 सालों से राष्ट्रीय-एकता की भावना से प्रेरित होकर हिंदीतर प्रदेशों के लोगों ने हिंदी का प्रचार किया। आज उनकी साधना एवं तपस्या के फलस्वरूप हिंदी राजभाषा के पद पर आसीन हो सकी है।

जब एक भाषा राजभाषा के पद पर अधिष्ठित हो जाती है तब उस भाषा का महत्व बढ़ जाता है। उस भाषा के महत्व के साथ-साथ उस भाषा के बोलने वालों का महत्व भी बढ़ जाता है। हमारा इतिहास इसका साक्षी है। उस भाषा में जो माहिर या प्रवीण होते हैं उनको केन्द्रीय सरकार की सचिवालय में बढ़ावा दिया जाता है। इसी वजह से आज हिंदी भाषियों को

(शेष पृष्ठ 18 पर)

क्या भाषा राष्ट्र को जोड़ती है

★ चन्द्रशेखर शुक्ल

वास्तव में, जब कोई देश राष्ट्र बनता है तो उसकी तीन अपेक्षाएं होती हैं—एक राष्ट्र-केतु, राष्ट्रभाषा, एक राष्ट्र-गीत। संसार के जितने भी अभ्युदित राष्ट्र हैं, उन सभी के साथ ये मूलभूत तत्व विलसित हैं। ये सभी तत्व मिल कर राष्ट्र के भीतर एक परम तत्व “राष्ट्रीयता” (देशभक्ति) को जन्म देते हैं। हमारे राष्ट्र में भी ये तीनों तत्व हैं किन्तु, निस्सार हैं, विशृंखलित हैं, क्योंकि इनके प्रति हमारा रागात्मक बोध आज सुस्थिर नहीं हो सका है। स्वर्गीय अरविंद के शब्दों में रचनात्मक बोध पैदा होने की निम्नवत् शर्तें हैं: “देश और आजादी के लिए रक्त बहाने का सुख, भू-माता के स्पर्श मात्र से भौतिकी सुख, भारतीय समुद्र में बहने वाली वायु का सुख, भारतीय वाणी, संगीत, कविता सुनने का सुख, परिचित ध्वनियों, आदतों वसनों, तौर-तरीकों के बीच रहने का सुख”। इनमें, “राष्ट्रभाषा का प्रश्न सर्वाधिक जटिल है। इसका अधिग्रहण बुद्धि के सहारे नहीं, श्रद्धा-भाव के भरोसे होता है। उस राष्ट्र में “राष्ट्रभाषा” का प्रश्न और जटिल हो जाता है, जहां अनेक “राष्ट्रभाषाएं” हों और उनमें-से एक को “राजभाषा” का पद दिया जाय। ऐसी परिस्थिति में, एक बहुभाषी राष्ट्र में जनभाषा के रूप में एक “राजभाषा” उस सामान्य धारणा को प्रायः असिद्ध करने लगती है कि “राष्ट्रभाषा” अपनी सामाजिक नियंत्रण की शक्ति से राष्ट्र को जोड़ती है। सामान्यतः, ऐसी “राष्ट्रभाषा” बहु-भाषी राष्ट्र में परस्पर बिखराव भी पैदा करती है। विचारणीय है कि ये तत्व समाज की मनः स्थिति पर कैसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

“राष्ट्र” किसी भूमि-विशेष का टुकड़ा मात्र नहीं है। वह तो अमित, उच्छल, सौंदर्यमयी जलधि-लहरी है, जिससे अभिभूत होकर वहां बसने वाले लोगों के मन में उसके प्रति न्योछावर होने की उद्दाम भावना जागृत होती है। वास्तव में, भावोद्धेलित ओजस्वी जन-समूह ही “राष्ट्र” संज्ञा से अभिहित होता है। “आक्सफोर्ड शब्दकोष” के अनुसार “राष्ट्र” (नेशन) की परिभाषा है: “एक पूर्वज की संतान, जिसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराएं एक होती हैं और जो एक विशाल भू-भाग में निवास करती है”। इस प्रकार, “राष्ट्र” में तीन तत्व निहित हैं—भूमि यानी भौगोलिक एकता, जन यानी राजनीतिक एकता और सांस्कृतिक एकता।

राष्ट्र से सम्बद्ध उपर्युक्त तत्वों में ‘संस्कृति’ की महत्ता सर्वाधिक है। संस्कृति समग्र राष्ट्र-चेतना का सामूहिक अभिव्यक्त संस्कार है। उस समन्वित संस्कार के कुछ स्थायी

परिणाम होते हैं, उसका समवेत रूप ही संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है। उसका शरीर है, वहां का भूगोल। भूगोल यदि क्षत-विक्षत भी होता है और उसकी आत्मा अक्षुण्ण रहती है तो राष्ट्र कभी नहीं मिटता है। और यदि आत्मा का ही तिरोभाव हो जाये और भूगोल ज्यों का त्यों बना भी रहे तो राष्ट्र का अस्तित्व नहीं रहता है। उदाहरण स्वरूप, यूनान, मिस्र आदि राष्ट्रों का भूगोल यद्यपि आज भी वैसे ही बना हुआ है, किन्तु उनकी आत्मा-संस्कार-विनष्ट हो गयी है। किन्तु, हमारे राष्ट्र की आत्मा-संस्कृति में समय-समय पर इसके भौगोलिक बिखराव के बावजूद आसेतु हिमालय कोई मलिनता नहीं आयी। हमारा सदा से संस्कार-भाव रहा है कि हम प्रातः उठते ही, भूमि पर पैर रखते ही, विनीत स्वर में कहते आये हैं :

“समुद्रवसने देवि, पर्वत स्तन मण्डले

विष्णु पतिन नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।”

उपर्युक्त स्तवन से समग्र भारत की महिमामयी छवि प्रतिदिन प्रातः ही हमारे नयनों के सम्मुख अभिनृत्य कर उठती है।

तात्पर्य यह है कि जन-जन में निहित “सांस्कृतिक एकता” का भाव ही राष्ट्र को जोड़ता है। जैसा कि ऊपर वर्णित है कि जब कोई देश राष्ट्र के रूप में उदीयमान होता है तो “राष्ट्रीयता” के पावन धरातल पर उसके निमित्त तीन प्रमुख तत्व अपेक्षित होते हैं—“राष्ट्रभाषा”, “राष्ट्रगान” और “राष्ट्र-केतु”। राष्ट्र-गान और राष्ट्र-केतु प्रच्छन्न तत्व हैं। इन्हें अंगीकर करने में राष्ट्र के आम लोगों के साथ बौद्धिक वर्ग को भी कोई परेशानी नहीं होती है। किन्तु, “राष्ट्रभाषा” के साथ जनजीवन का सीधा सम्बन्ध होने से कालांतर में राजनीतिक स्तर पर विशेषतः बौद्धिक वर्ग के बीच, मनः स्थित-भेद पैदा हो जाता है और उसे यथावत् अंगीकार करने से उसे हिचक होती है। राष्ट्र-सत्ता (प्रशासन) यदि बलवती हुई तो उसके द्वारा प्रतिपादित ‘राष्ट्र-भाषा’ अंगीकृत हो जाती है और यदि वह कमजोर पड़ती है तो उसके कारण राष्ट्र में बिखराव का वातावरण उजागर होने लगता है। परिणामतः, यह सामान्य धारणा अप्रभावकारी सिद्ध होने लगती है कि बहुभाषी राष्ट्र में एक सर्वमान्य, सुलभ भाषा राष्ट्र को सदा जोड़ने का कार्य करती है, क्योंकि, ‘सामूहिक हित’ की प्राप्ति के लिये राष्ट्र के लिए ऐसी एक भाषा की आवश्यकता होती है।

वास्तव में, संस्कृति और भाषा में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भाषा के माध्यम से राष्ट्र की संस्कृति परिलक्षित होती है।

किन्तु, भाषा स्वतः संस्कृति नहीं होती है। वह उसकी अनुप-
गिनी होती है। प्रायः देखा गया है कि “बहुभाषी राष्ट्र” में भी
परस्पर “सांस्कृतिक अस्मिता” की भावना एक होने से, “सामूहिक
हित” की बात को लेकर वहाँ के सभी लोग एकजुट हो जाते
हैं। इसी भावना के आधार पर “राष्ट्रीय कांग्रेस” की स्थापना
हुई थी और आसितु हिमालय एक भाषा “अंग्रेजी” की पूर्ण
परिव्याप्ति के होते हुए भी “नेटिव” अंग्रेजी भाषी सत्ताधारियों
के विरुद्ध अंग्रेजी बोलने, समझने वाले इस राष्ट्र के बौद्धिक
लोगों ने बगावत का बिगुल बजाया और राष्ट्र की पहली शर्त—
उसे स्वाधीन होने की बात—पूरी की। किसी भाषा विशेष में
ही यदि आन्तरिक रूप से परस्पर एकता पैदा करने की शक्ति
होती तो अंग्रेजी भाषा में महारत हासिल करने वाले भारतीय
बौद्धिक अंग्रेजों के विरुद्ध खड़े नहीं हुए होते। किन्तु, देश की
“सांस्कृतिक एकता” ने इन परस्पर बहुभाषी बौद्धिकों को
“सामूहिक हित”—स्वशासन—की प्राप्ति के नियमित एक कर
दिया। अनेक राष्ट्रों के विभिन्न भाषा बोलने वाले लोग
“समान मत-विश्वास” के कारण-स्वरूप भी प्रायः एक हो जाते
हैं, जैसे प्रायः सभी साम्यवादी देश। यद्यपि, “सामूहिक हित”
को प्रश्रय देने वाले लोग भी प्रायः एक सर्वमान्य सुलभ भाषा
की तलाश करते हैं। किन्तु, ऐसी एक भाषा होने से “सामूहिक
हित” की अवधारणा सर्वमान्य रूप से बद्धमूल होती है, ऐसी
निर्बाध परम्परा प्रायः नहीं देखी गयी है। जर्मनी और आस्ट्रिया
की एक “कामन” भाषा जर्मन है। किन्तु, इन दोनों राष्ट्रों के
बीच भी गहरी खाई खुदी है। समान धर्मावलम्बी ईरान-इराक
परस्पर वैमनस्य में रहते हैं। कहते हैं कि “पैन इस्लामिक”
भाव के पोषक लोग भौगोलिक एकता को प्रायः नहीं मानने हैं।
उनकी दृष्टि में उस भूगोल में पनपी भाषा का कोई मूल्य नहीं
होता है, जबकि राष्ट्रभाषा की जननी उसकी मातृभूमि ही
होती है।

इस संदर्भ में भारतीय उप-माहद्वीप में “भाषा” के प्रति
बदलती जन-सामान्य की मनःस्थिति का खुलासा अध्ययन
समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी अपेक्षित है। इस अध्ययन में
“सांस्कृतिक अस्मिता” के परस्पर वैभिन्य के साथ ही राजनीतिक
धरातल पर “सामूहिक हित” की विभिन्नता भी स्पष्ट रूप से
परिलक्षित होती है। पाकिस्तान बनने के पहले, इस भूखण्ड
पर “बंगाल” नामक एक प्रदेश था, जहाँ “सांस्कृतिक अस्मिता”
के नाम पर दो जातियाँ थीं—हिन्दू बंगाली और मुस्लिम
बंगाली। इन सभी की एक मात्र भाषा थी—“बांग्ला”। किन्तु,
बंगाली मुसलमान वहाँ के बंगाली हिन्दू को ही “बंगाली” की
संज्ञा देते थे और स्वयं “मुसलमान” कहलाने में अपनी इयत्ता
समझते थे। वहाँ के मुल्लाओं ने “बांग्ला” की अपेक्षा अरबी
और फारसी के शब्दों को ही आपसी बात-चीत के प्रयोग पर
सदा बल दिया। शिक्षित मुसलमानों ने बांग्ला भाषा की अपेक्षा

उर्दू भाषा को ही अधिक पसंद किया। बांग्ला भाषा को वहाँ
के बौद्धिक मुसलमान “हिन्दू संस्कृति” के साथ ही जोड़कर
रखने के आग्रही थे। उनका फतवा था कि हिन्दू और मुस्लिम
संस्कृतियाँ दो अलग-अलग धाराएँ हैं। ये कभी परस्पर मिल नहीं
सकतीं।

कालांतर में पाकिस्तान का निर्माण हुआ। एक दिन में ही
उक्त मनःस्थिति की शवीह बदल गयी। पश्चिमी पाकिस्तान ने
राष्ट्रभाषा उर्दू की स्वतः सुविधा-परस्ती के कारण पूर्वी पाक
को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग-थलग करना शुरू कर दिया।
तब, उनके बीच धर्म (दीनिया) की कमजोर दीवार भी ढहनी
शुरू हो गयी। पूर्वी पाक के लोग स्वयं उपेक्षित अनुभव करने
लगे। वे सोचने लगे कि पश्चिमी पाक के लोग जिस भाषा का
व्यवहार करते हैं, उसके माध्यम से राजनीतिक हित को लेकर
हम लोग कभी आगे नहीं बढ़ सकते। तब, वे लोग, अपने को
“मुसलमान” कहलाने की अपेक्षा “बंगाली” कहलाना अधिक
उपयुक्त समझने लगे। उर्दू को वे अपने पर थोपी हुई भाषा
समझने लगे। पूर्वी पाक के “बंगला देश” के रूप में स्वतंत्र राष्ट्र
के अभ्युदय के बाद उनकी मनःस्थिति में पुनः बदलाव आया।
सम्प्रति, वे बांग्ला भाषा की अपेक्षा अरबी, फारसी और उर्दू
भाषाओं को पूरी पसंदगी से अपनाते रहे हैं। बांग्ला भाषा से
“हिन्दू संस्कृति” की गंध की परख उन्हें होती रही है। कवींद्र
रवींद्र की संस्कृतनिष्ठ मंजुल शब्दावली से वे अब घिनाने लगे
हैं। अभी हाल ही में, पाकिस्तान में “राजभाषा” उर्दू के प्रति
विरोध प्रकट करने हुए सिंधी भाषा के बुद्धिजीवी डा. अब्बासी
ने निम्नलिखित विचार प्रकट किया है : “यदि हमसे उर्दू छीन
ली जाती है तो हमसे कुछ भी नहीं छिनता...पर हमसे सिंधी
छीन ली जाये तो हम अपना सर्वस्व खो देते हैं।”

उपर्युक्त तथ्य यह उद्घाटित करता है कि राष्ट्रीय स्तर पर
राजकाज की भाषा के चुनाव में अनेक प्रकार की दिक्कतें आती
हैं, जिनमें प्रमुख हैं—“राजभाषा” के साथ घटित होने वाली
राजनीतिक सुविधा-परस्ती की बात। भारत दासतावस्था में,
हिन्दी को “राजभाषा” के रूप में अभिषिक्त करके स्वाधीनता
प्राप्त की गयी। तदनन्तर, चौदह भाषाओं को “राष्ट्रभाषा”
घोषित करके, हिन्दी को “राजभाषा” का पद दिया गया।
इतना ही नहीं, एक ही राष्ट्र में भाषावार अनेक राष्ट्रों को
जन्म दे दिया गया। इस प्रकार, एक राष्ट्र में विविध प्रकार
की मनःस्थितियाँ पैदा हो गयीं, जिनके प्रति सन् 1948 ईस्वी में
ही डा. भीमराव आम्बेडकर ने आशंका व्यक्त की थी : “भाषा-
वार प्रदेशों के निर्माण से एक राष्ट्र में अनेक राष्ट्रों का जन्म
होगा, जो अपनी ही भाषा, जाति और साहित्य-परता के अहं में
सदा चूर रहेंगे। भाषावार प्रदेश का निर्माण केन्द्र और राज्यों
के बीच प्रशासनिक सम्बन्ध को भी नष्टप्राय कर देगा। राष्ट्र
एकता के सूत्र में बंधने की अपेक्षा छिन्न-भिन्न हो जायेगा।

दुर्व्यवस्था और दुश्चिन्ता में फँसकर सम्पूर्ण भारत योरोप की तरह टुकड़ों में बंट जायेगा।”

स्वर्गीय अम्बेडकर की उक्त उक्ति का आज पुरजोर असर दिख रहा है। दक्षिण भाषाभाषी “सामूहिक हित” की बात को लेकर, जो कभी अंग्रेजी का विरोध करते थे, आज उसी राजनीतिक सुविधा की बात को लेकर हिन्दी के प्रति बाहरी तौर से उदासीन हैं। उनके लिये भी अंग्रेजी उतनी ही स्वदेशी भाषा है, जितनी यह अन्य लोगों के लिए भी, किन्तु हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी को वरण करने में वे आज अधिक समुत्सुक दिख रहे हैं। अपने क्षेत्रीय उत्थान में हिन्दी के ‘राजभाषा’ होने के कारण उन्हें अब व्यवधान दिख रहा है। सामान्यतः होता यह है कि राष्ट्र के अभ्युदय के साथ दो मनःस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं—राष्ट्रीयता (नेशनलिज्म) और राष्ट्रवाद (नेशनलिज्म)। समग्र राष्ट्र जिस समवेत रूप से भावना के घरातल पर अभिव्यक्त होता है, उसकी संज्ञा है—राष्ट्रीयता। यह समग्र राष्ट्र के जन-जन का राष्ट्र-भक्ति से ओत-प्रोत समवेत करणीय कर्तव्य है। जिस राष्ट्र में “राष्ट्रीयता” उजागर रहती है, देश का नेतृत्व, जिसे पहली पंक्ति में सदा प्रतिष्ठित रखने का आग्रही रहता है, उस राष्ट्र में “राष्ट्रवाद”, “राष्ट्रीयता” के अधीनस्थ होकर रहता है। उसका स्वार्थवाद “राष्ट्रीयता” के संकेत पर ही परिश्रान्त होकर परितृप्त होता है। किन्तु, भारत का “राष्ट्रवाद” राष्ट्र के परम तत्व “राष्ट्रीयता” को ही अधीनस्थ करके उपलब्ध आज बह रहा है। इस परस्पर उद्गम बहाव में हमारी भी समिधा का यही तो योग हो रहा है : “राजभाषा हिन्दी के विकास के लिये कोई कोर-कसर नहीं रखी जाएगी और किसी पर यह अनचाहे थोपी भी नहीं जायेगी।” इस अव्यावहारिक आश्वासन से एकमात्र “राष्ट्रवाद” को ही प्रश्न्य मिलेगा। “राष्ट्रीयता” का उद्गम सुखेगा। क्योंकि, “राष्ट्रीयता” की महत्वपूर्ण अपेक्षा “राजभाषा” ही होती है। उसके ही माध्यम से राष्ट्र का सामाजिक संस्कार अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक राष्ट्र की उस भूमि विशेष से उपजी अपनी एक भाषा होती है। उसके माध्यम से उसकी सभ्यता,

संस्कृति अभिव्यक्त होती है। राष्ट्र की राष्ट्रीयता, एकता, मानवता उसी भाषा से अभिसिंचित होती है। ऐसी भाषा सामाजिक नियंत्रण का भी कार्य करती है। वह समाज का अनुरक्षण भी करती है। अनुरक्षक किन बातों की? समाज के प्राण-संस्कृति-की, समाज के शरीर को बांधने वाली मजबूत भावना की।

राजभाषा के रूप में गृहीत “हिन्दी” इस घरती के पत-पत की गंध से सुवासित होने के कारण ये सारी अपेक्षाएँ पूरी करती है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण सत्य यह है कि हिन्दी इस घरती की संस्कृति से अप्यायित है। किसी राष्ट्र की “राजभाषा” के लिए यह प्रमुख शर्त है। यह राष्ट्र की सामाजिक, सांस्कृतिक पहचान को अक्षुण्ण रखकर “जन-जन” की भावनाओं को जोड़ने का कार्य करती है। भारत-सरीखे बहु-आयामी समाज को धर्म-निरपेक्षता के मार्ग में बढ़ने के लिए यह प्रश्न्य देती है। कोई भी विदेशी भाषा ये शर्तें पूरी नहीं करती, भले ही, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वह भाषा अंग्रेजी ही क्यों न हो। किन्तु, एक बात का ध्यान भी रखना होगा कि “राजभाषा” हिन्दी बहुभाषी भारतीय सामाजिक जीवन के सौख्य को पूरा करने में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न करे। क्योंकि, “राजभाषा” जब सामाजिक नियंत्रण का कार्य करने लगती है और इस “माध्यम” की सुविधा से कुछ वर्ग वंचित होने लगते हैं तो उनके “सामूहिक ध्येय” की प्रति में भी व्यवधान पड़ने लगता है। परिणाम-स्वरूप, ये सभी वर्ग “राजभाषा” के प्रति उदासीन से होने लगते हैं। उसके प्रति विद्रोह के स्वर भी वे उगलने लगते हैं। किन्तु, इससे “राजभाषा” के जोड़ने की शक्ति के प्रति कोई आशंका नहीं होनी चाहिए। यदि कोई एक राष्ट्र है तो उसकी सांस्कृतिक अस्मिता को उजागर करने के लिए “राजभाषा” का होना आवश्यक है। हिन्दी अपनी सर्वमान्य संक्रमता के कारण इस पद की अधिकारिणी रही है।

अनुभाग अधिकारी, द्वारा मण्डल लेखा कार्यालय,
पूर्वोत्तर रेलवे/वाराणसी 221002.

“मैंने हिन्दी का सहारा न लिया होता तो कश्मीर से कन्या कुमारी और असम से केरल के गांव-गांव में जाकर मैं भूदान-ग्रामदान का क्रांतिपूर्ण संदेश जनता तक न पहुंचा सकता। यदि मैं मराठी भाषा का सहारा लेता तो महाराष्ट्र से बाहर और कहीं काम न बनता। इसी तरह अंग्रेजी भाषा लेकर चलता तो कुछ प्रांतों में काम चलता, परन्तु गांव-गांव में जाकर क्रांति की बात अंग्रेजी द्वारा नहीं हो सकती थी। इसलिए मैं कहता हूं कि हिन्दी भाषा का मुझ पर बहुत बड़ा उपकार है, इसने मेरी बहुत बड़ी सेवा की है।”

—बिनोबा भावे

सौन्दर्य की तृषा

जब लड़की बड़ी होती है, तब उसके बड़े होने की, ब्याह-शादी की जितनी चिन्ता हमें नहीं होती, उससे अधिक दूसरों को होती है, जो उन्हें बराबर परेशान किये रहती हैं...

□ चन्द्रवदन मेहता



“क्या ऐसा हो सकता है ?” पीताम्बर ने पूछा ।

“हां, हो सकता है । दुनिया इतनी बड़ी, विशाल और अजीब है कि इसमें होनी-अनहोनी, संभव और असंभव—सब कुछ हो सकता है ।” जवाब में चंद्रवदन ने कहा ।

“हो सकता है, यह तो मैं मानता हूं, लेकिन आज के जमाने में ऐसा आदर्शवाद नहीं चलता और न वास्तव में ऐसा होता ही है । यह कोई साधारण या सामान्य बात नहीं । हां, कहानी या नाटक में तो ऐसा हो सकता है, लेकिन इसमें क्रिया और कर्म का कोई ताल-मेल नहीं बैठ रहा, इसलिये संदेह है कि ऐसा हो सकता है या नहीं ।”

इतने में पटेल और उसकी पत्नी रूबी आ पहुंची । पटेल को देखते ही पीताम्बर चहक पड़ा “आओ, पटेल भाई, आओ, और यह किस्सा सुनो ।”

“क्या सुनना ? तुम इस चक्कर में क्यों पड़े हो कि यह हो सकता है या नहीं हो सकता ?”

“अरे, मैं तो इस चक्कर में नहीं पड़ा । यह तो पता करने की बात है । चंद्रवदन भाई ने कुछ बात ही ऐसी कही है कि उस पर विश्वास नहीं होता ।”

“पीताम्बर भाई, तुमको चंद्रवदन की बात पर संदेह किस लिए हो रहा है ।”

“पटेल भाई, तुम इतने उतावले मत बनो । पहले इनकी बात तो सुनो, फिर निर्णय देना ।”

“अच्छा, तो हां, चंद्रवदन भाई, कहो क्या किस्सा है ?”

तब चंद्रवदन ने फिर शुरू से सारी कहानी सुनानी शुरू की—

“पटेल भाई, उसका नाम था नौतम, और उसका था न्यारी ।”

तभी पीताम्बर बीच में बोला पड़ा, “कहने का मतलब यह है कि ये नाम सच्चे नहीं हैं । सच्चे नामों की जगह पर ये कल्पित नाम रख लिये हैं । अब आगे बोलो, और हां, चंद्रवदन भाई, बीच में बोलने के लिये मुझे माफ करना ।”

“हां, तो न्यारी बहुत ही सुन्दर और आकर्षक थी । जब वह तरुणावस्था में आयी, तब तो उसका रूप अंगों में नहीं समाता था, देखने वालों की आंखों में भी नहीं समाता था, वह इतनी सुंदर थी । सुंदर तो इतनी थी कि उपमाएं तो उसके लिए अपवाद ही माननी पड़ेंगी । सभी देखने वालों का वह मन हर लेती थी, इतनी मनोहर थी वह—मतलब यह कि उसके रूप का वर्णन करने के लिए मुझे क्रिया-विशेषणों का प्रयोग करना पड़ेगा, ऐसा था उसका रूप । सभी आसपास वाले कहते थे, ‘अहां-हां, भगवान ने तो रूप तुम्हें खुले हाथों दिया है न्यारी ।’

“न्यारी और नौतम, हालांकि, वे दोनों काल्पनिक नाम हैं लेकिन कहानी बिल्कुल सच्ची है ।

“जब लड़की बड़ी होती है, तब उसके बड़े होने की, ब्याह-शादी की जितनी चिन्ता हमें नहीं होती, उससे अधिक दूसरों को होती है, जो उन्हें बराबर परेशान किये रहती हैं ।

“संक्षेप में कहानी यह कि एक दिन जब यकायक लोगों को यह खबर लगी कि न्यारी का विवाह नौतम से होगा, तो गांव वालों की जुवानें बिजली की तरह चल निकली कि यह नहीं हो सकता, यह कैसे संभव है ? यह खबर गलत है, गप्प है । और यह चर्चा छोटे से लेकर बड़े तक सभी में चली । इसी बीच किसी चुलबुले को जब न्यारी कहीं अकेली मिली, तब उसने न्यारी से यह पूछ ही लिया कि क्या उस की शादी नौतम से हो रही है ? और न्यारी ने भी तपाक से जवाब दे दिया, ‘हां, क्यों ? क्या इससे किसी को कोई परेशानी है ? कुछ दिनों में ही हम दोनों शादी कर लेंगे ।’

“और कुछ दिनों में उन दोनों की शादी हो गयी। न्यारी और नौतम शादी करके अपने एक छोटे से घर में रहने लगे।

“न्यारी से कोई पूछे, न पूछे, तब भी अनेक बार उसे दूसरी औरतों से यह कहते सुना गया, मैं सुंदर हूँ। नौतम मेरे रूप का बखान करते नहीं थकता। जब वह मेरी आंखों को देखता है, तो बस, देखता ही रह जाता है। जब वह मेरी नाक की प्रशंसा करने लगता है, तब ऐसा लगता है कि उसे तोते की नाक की प्रशंसा करने का मौका मिल गया हो। मैं उसे पसंद हूँ, क्योंकि वह मेरे सौंदर्य पर मुग्ध है। कितनी ही बार वह मेरे चेहरे को अपने हाथों में लिये हुए, टकटकी लगाये घंटों देखता रहता है। हम दोनों बड़े सुखी हैं।

“वास्तव में वे दोनों सुखी थे, लेकिन किसी के भी हमेशा एक से दिन नहीं बीतते। इसके बहुत से कारण होते हैं। आदमी को रोग भी कुछ कारणों से होते हैं। और फिर कारण किस चीज के नहीं होते? यह बात और है कि खोजने पर ये कारण हाथ नहीं लगते। हाँ, तो रोग ने न्यारी पर भी हमला किया और उसे विस्तर पर पटक दिया। खिले हुए फूल जैसा उसका चेहरा कुम्हला कर सूख गया, रंग उड़ गया, आंखें निस्तेज हो कर गड्ढे में बैठ गयीं। ऐसा लगने लगा कि यह लम्बी बीमारी उसकी जान लेकर ही जाएगी। बीमारो के दौरान नौतम हर रोज नियमित रूप से उसकी देख-भाल करता रहा। घर के काम-काज के लिए उसने एक नौकरानी रख ली। नौतम अधिकांश समय उसके चेहरे को देखा करता। और उस पुर-बहार, उभरते सौंदर्य की याद कर व्याकुल व व्यथित हो उठता। घंटों गमगीन हो बैठा रहता, जैसे उसकी अनमोल संपत्ति लूटी जा रही हो। उसके मन में द्वन्द्व और चिंता की ज्वाला जलती रहती, जिसके ताप में वह अपने आप को जलाता सुलगाता रहता। इस सारी स्थिति का उस पर असर पड़ना ही था, और वह पड़ा भी। वह भी अपने चेहरे की रौनक लुटा बैठा।

“अब तो वह न्यारी के चेहरे की तरफ देखते ही घबरा जाता और फौरन ही अपनी नजर हटा लेता। उसे असह्य वेदना होती थी न्यारी को देख कर। कुछ दिनों वह लगभग आंखें मींच कर ही न्यारी के पास उसके हाल-चाल पूछने जाता, और तुरन्त ही वापस लौट आता। अन्त में वह ऐसा करते-करते भी थक गया। एक दिन उस रूप, उस रंग, उस सौंदर्य और उस चमक-दमक की याद ने उसे इतना परेशान कर दिया कि वह उस वेदना को सह नहीं सका। वह एक क्षण के लिये न्यारी के विस्तर के आगे पहुंचा और क्षण भर के लिए उसके उजड़े और समाप्त-प्रायः रूप को देखा। और इस शंका के मन में आते ही कि अब न्यारी जिंदा कैसे रहेगी—वह तुरन्त ही वहां से भाग निकला।

“उसका दिमाग फटा जा रहा था। वह घर से बाहर निकल पड़ा। तभी पीछे से नौकरानी ने आवाज दी लेकिन जब वह चल

निकला, तब तो वह चल ही निकला। वह चलता ही चला गया। किस तरफ, किस तरह और कितनी देर तक वह चलता रहा, इसका उसे भी कतई ध्यान नहीं रहा।

“न्यारी ने कमजोर-कातर आवाज में नौकरानी से पूछा कि क्या हुआ? तब नौकरानी ने सारी बात बता दी, जिसे सुन कर उसने केवल इतना ही कहा, ‘उससे मेरा सौंदर्य-विहीन, उजड़ा हुआ चेहरा नहीं देखा गया।’

“अजीब है न यह संसार भी। आप इसे वहाँ कहें, मानवता कहें, संयोग या ग्रहदशा कहें कि नौतम के घर से निकलने के बाद, यकायक न्यारी की हालत सुधरने लगी।

“दो-चार दिन पागलों की तरह भटकने के बाद नौतम लौट आया। जब वह घर में घुसा तब उस समय डाक्टर घर से बाहर निकल रहा था, डाक्टर ने बताया कि न्यारी अब बच जाएगी। क्योंकि उसकी तबियत में सुधार होने लगा है, यह खुशी की बात है।

“नौतम तुरन्त ही न्यारी के पास पहुंचा। उसे न्यारी के चेहरे पर चमक लौटती दिखाई दी, तो उसका दिमाग फिर से पहले की तरह काम करने लगा और वह तत्काल उसकी देख-भाल में जुट गया। जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे-वैसे वह ठीक होती गई। वह विस्तर से उठने-बैठने लगी, फिर घर के अन्दर धीरे-धीरे टहलने सी भी लगी। उसके चेहरे पर फिर से लाली फैलने लगी।

“न्यारी के मुख पर वह जैसे-जैसे लावण्य को फिर से लौटते हुए देखता वैसे-वैसे वह दिल ही दिल खुश होता गया। उस खुशी को वह कभी-कभी जाहिर भी कर देता था, परन्तु अब उन दोनों में ज्यादा बातचीत नहीं होती थी।

“थोड़े दिनों तक यही चलता रहा। फिर नौतम को लगा कि अब उसे थोड़ा-बहुत घुमाने के लिए बाहर ले जाना चाहिए। बाहर की खुली हवा में घुमाने में कोई नुकसान नहीं, फिर डाक्टर ने भी कह दिया था। इसलिए वह एक दिन एक छोटी-सी हाथ गाड़ी ले आया और उसमें बैठा कर वह उसे बाहर घुमाने ले गया। रास्ते में न्यारी ने उससे कहा कि वह उसे उसकी मां के यहां ले चले। नौतम ने हाथगाड़ी को उसी रास्ते पर मोड़ दिया। घर के आगे दरवाजे पर वह उतरी, धीरे-धीरे वह दरवाजे तक पहुंची। नौतम गाड़ी को ठीक जगह पर खड़ी करने के बाद जब दरवाजे पर पहुंचा—तभी न्यारी ने अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया। नौतम ने दरवाजा बहुत खटखटाया, न्यारी को आवाजें दी, लेकिन न्यारी ने कोई जवाब नहीं दिया। जब नौतम ने दरवाजे के पास वाली जालीदार खिड़की के सामने पहुंच कर दरवाजा खोलने के लिए कहा, तब न्यारी ने कहा, ‘जब मेरा रूप-रंग खत्म हो गया था, तब तो तुम मुझे मरने के लिए अकेला छोड़ कर दूर भाग गये थे न, इसलिए अब तुम अकेले ही रहो, यही ठीक है।’

“नौतम ने उसे समझाते हुए कहा, ‘न्यारी, उस समय मेरा

दिमाग ठीक ठिकाने नहीं था। तेरा यह कहना गलत है कि मैं तुम्हें तेरा रूप-रंग खत्म हो जाने पर मरने के लिये अकेला छोड़ कर भाग गया था। मैं तो, वैसे ही गम से परेशान होकर निकल पड़ा था।' लेकिन न्यारी ने उसकी एक न सुनी और खिड़की को भी बन्द करके वह अन्दर चली गई।

“कहते हैं कि फिर इसके बाद वे दोनों, जब तक जिए, तब तक एक-दूसरे से कभी नहीं मिले।”

कहानी पूरी हुई तो रूबी और पटेल दोनों के मुँह से एक साथ निकल पड़ा, “हैं !”

इस पर पीताम्बर ने कहा, “देखो, इसे सुनकर तुम्हें भी विश्वास नहीं हुआ न। इसीलिये तो मैंने पूछा कि क्या ऐसा हो सकता है ?”

पीताम्बर की बात पूरी होते ही रूबी बोल पड़ी, “हो सकता है। हो क्यों नहीं सकता ? न्यारी के मन में यह बात बैठ गयी थी कि नौतम ने उसके रूप के कारण ही उससे शादी की है।”

पटेल ने रूबी की बात का प्रतिवाद करते हुए कहा, “क्यों, तुम यह बात कैसे कह सकती हो, रूबी। नौतम को लगा था कि अब न्यारी बचने वाली नहीं। इसलिये वह अपने होश-हवाश खो बैठा और घर छोड़ कर भाग खड़ा हुआ।”

“चलो, रहने दो होश-हवाश ऐसे नहीं खोया करते। रात-

दिन न्यारी के रंग-रूप को निहारने के सिवा नौतम को किसी दूसरी बात में रस ही कहाँ था, वह तो दोनों हाथों में उसके चेहरे को लेकर घंटों देखा करता था। बस, इतना ही तो था उसका प्यार।”

“उसके गुणों को भी तो वह पूजा करता था न।” पटेल ने कहा, “फिर उसने उसकी बीमारी में भी तो हर तरह से देखभाल और भाग-दौड़ की थी न, यह क्या था ?”

दोनों के बीच यह बातचीत चल ही रही थी कि तभी पीताम्बर बोला कि यह भी तो हो सकता है कि दोनों के मन में न्यारी के मन में...बोलते-बोलते उसकी नजर उस ओर घूम गई जहाँ चन्द्रवदन खड़ा हुआ था। लेकिन, यह क्या...चन्द्रवदन वहाँ नहीं। चन्द्रवदन को वहाँ न पाकर उसने कहा, “अरे चन्द्रवदन यहाँ से कब खिसक गया ? अभी तो वह यहीं पर था। वह भी जुलम करता है—हम कहानी पर विचार कर रहे थे कि वह गायब हो गया।”

जैसे ही इन तीनों ने खिड़की से नीचे की ओर झाँका, तो देखा कि चन्द्रवदन अपने घर की ओर जा रहा है। उसे देख तीनों ही इस सोच में पड़ गये कि कहीं चन्द्रवदन की कोई न्यारी बीमारी के बिस्तर पर न पड़ी हो। □

अनुवाद : डॉ० जगदीश चन्द्रिकेश

ए-1/242 ए, लारस रोड, नई दिल्ली-110035

(पृष्ठ 12 का शेष)

हिंदीतर भाषियों से अधिक बढ़ावा दिया जा रहा है। वे आज सार्वदेशिक प्रयोजनों के लिए अपनी भाषा के बल पर आवश्यक शक्ति प्राप्त करते जा रहे हैं।

हिंदी भाषियों की मातृभाषा हिंदी होने की वजह से उनका हिंदी का स्तर अवश्य ऊँचा होगा और हिंदीतर प्रदेशों में जहाँ पर कुछ अवधि तक ही ऐच्छिक या अनिवार्य तौर पर हिंदी पढ़ायी जा रही है, उनका स्तर अवश्य नीचा होगा। इसके पूर्व अंग्रेजी एक विदेशी भाषा थी जो सभी भारतीयों के लिए परायी भाषा थी। उसे सभी भारतीयों ने एक तरह सीखा। इसलिए हर प्रदेश में उसका स्तर एक सा रहा। लेकिन हिंदी जिन प्रदेशों की मातृभाषा है वहाँ के निवासी आसानी से उसे सीख सकते हैं, और अनतिकाल में ही उस पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए राजभाषा के संबंध में आज यह एक नयी स्थिति है जो स्वतंत्रता प्राप्ति के 35 वर्षों के बाद हमारे सामने खड़ी है।

संक्षेप में हिंदी उत्तर भारत के 7 प्रदेशों की मातृ-भाषा होने के साथ-साथ सारे भारत देश की राजभाषा है। इतना ही नहीं आज हमें उसे अपने अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों को निपटाने की एक संपर्क-भाषा भी बनाना है। अंग्रेजी अब तक यह दायित्व निभाती रही है। अंग्रेजी के क्रमशः हटने की स्थिति में हिंदी

के द्वारा उस दायित्व को निभाने के लिए उसे सशक्त बनाना है। हिंदी आज विश्व की एक प्रमुख भाषा है। इसके बोलने और समझने वाले सारे भूमंडल में फैले हुए हैं। मारिशस, फिजी, गयाना, सुरिनाम, और मेडागास्कर आदि अफ्रिका के कई देशों में काफी संख्या में हिंदी भाषी पाये जाते हैं। यहाँ तक कि हिंदी मारिशस की राजभाषा भी बन चुकी है। इसके नाते हिंदी अन्तर्राष्ट्रीय संपर्क के माध्यम के रूप में पहले से ही एक महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी है।

इसलिए हिंदी को एक ऐसी समग्र, सर्वांगीण, सशक्त अभिव्यक्ति का स्वरूप दिया जाय, जिससे वह विभिन्न देशों में रहने वाले हमारे प्रवासी भारतीयों का भाषिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आरक्षण कर सके और वह हमारे अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-कलाप एवं व्यवहारों के लिए संपर्क-भाषा का माध्यम बन सके।

हम यही चाहते हैं कि हिंदीतर प्रादेशिक भाषाएँ स्वयं सुसंपन्न होकर हिंदी की अभ्युन्नति के लिए सहयोग प्रदान करें और सार्वदेशिक भाषा हिंदी अपनी संपूर्ण क्षमता से समृद्ध होकर हिंदीतर भाषाओं के पूर्ण विकास के लिए बल प्रदान करे। □

—विद्यानगर,

—विशाखापट्टनम्—53003.

भारतेतर हिंदी लोक साहित्य और उसकी समस्याएं

★ डा० कामता कमलेश

उन्नीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखती है क्योंकि इसी समय सर्व प्रथम हिन्दी का लोक साहित्य भारत की सीमा पार कर बाहर गया है और उसकी विदेश यात्रा का श्री गणेश हुआ। किसी भी भाषा या साहित्य की कोई स्थायी भौगोलिक सीमा नहीं बनायी जा सकती।

लोक साहित्य किसी जाति, भाषा और समाज की अस्मिता की आन्तरिक पृष्ठभूमि होती है फलतः उसी के आधार पर संस्कृति और साहित्य रूपी गंगा-यमुना के दर्शन होते हैं। इसी उन्नीसवीं शताब्दी में गौरांगप्रभुओं ने भारत से हजारों-लाखों भोले-भाले, भूखे-प्यासे मजदूरों को सब्ज-बाग की सैर कराने के बहाने से संसार के अनेकानेक देशों एवं टापुओं में ले गए पर वहां उन कर्मदेव महापुरुषों को सब्ज-बाग के स्थान पर दण्ड-बाग मिला। जिसकी करुण महागाथा अब इतिहास के काले पृष्ठ बन गए हैं। ये मजदूर सर्वप्रथम सन् 1834 में मारिशस, 1845 ट्रिनीडाड अर्थात् वेस्ट इंडीज, 1860 द० अफ्रीका, 1870 गुयाना, 1873 सूरीनाम तथा 1879 को फिजी द्वीप समूह पहुंचे थे। ये भारतीय मजदूर विशेषकर पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा गुजरात के थे। जिनकी मातृ-भाषा अवधी, भोजपुरी, गुजराती आदि प्रमुख थी। यहां पहुंचकर इन मजदूरों को अमानवीय यातनाएं एवं भीषण आर्थिक कष्ट के दिन भोगने पड़े। उन्हें उनकी भाषा एवं संस्कृति से दूर रखने के अथक प्रयास भी हुए किन्तु ये लोग जो भूखे रहकर नंगी पीठ पर कोड़े की मार सहने, कोल्हू पर नंग पैर जुतने और पांच-छः आने दैनिक मजदूरी में पेट पालने को विवश थे, इस पर भी इन महान सपूतों की आत्म-शक्ति बज्रायुध से भी टूटने या डिगने वाली न थी क्योंकि वे वहां अकेले नहीं पहुंचे थे वरन् वे अपने साथ गीता का कर्म योग और मानस का मर्यादित स्वभाव, भारतीय धर्म, संस्कृति और भाषा की अमूल्य निधि लेकर गये थे। जिस दिन इन लोगों के पवित्र चरण विदेशी धरती पर पड़े थे यदि उस समय आज की भांति 'कस्टम चेकिंग' का नियम होता तो इनकी फटी पोटलियों एवं गठरियों में रामायण, हनुमान चालीसा, गीता, तोता-मैना, सत्य नारायण कथा, सारंगा सदावृक्ष की पोथियां मिलतीं और कंठ में मानस की चौपाइयां, कबीर की साखियां, देवी-देवताओं की स्तुतियां, आरतियां, पूजापाठ के मंत्र, श्लोक, नीति और सदाचार सूक्तियां, आल्हा-ऊदल के जोशीले गान, लोरिकी, चनैनी, कजरी, सोहर, बिरहा, फाग, बिदेशिया,

चैती तथा रसिया के गीतों की धुन कंठस्थ मिलती। मुझे यहां यह कहते हुए गर्व है कि इसी लोक-साहित्य के बल पर ही आगे चलकर उन्हें स्वच्छन्द और मुक्त वातावरण में सांस लेने का मौलिक अधिकार मिला और वे वहां के मलिक बन गए।

भारत के बाहर जाने वाले प्रायः सभी मजदूर अशिक्षित थे अतः समुद्र की लम्बी तूफानी यात्रा को तय करने तथा अपनी बैरकों में दिन भर की थकान मिटाने के लिए कंठस्थ लोक-गीतों तथा लोक कथाओं का सहारा लेते। ताली, चुटकी तथा पत्थर ही उनके वाद्य-यन्त्र होते थे। आज भी फिजी में गाया जाने वाला प्रस्तुत विदेशिया लोक-गीत वहां के तत्कालीन जन-जीवन की यातना और ताड़ना का हृदय विदारक दृश्य उपस्थित करने में सक्षम है—

फरंगिया के राजुआ मां छूटा मोरा देसुआ हो
गोरी सरकार चली चाल रे बिदेशिया।
भोली हमें देख आरकाटी भरमाया हो
कलकत्ता पार जाओ पांच साल रे बिदेशिया।
डीपुआ मां लाए पकरायो कागदुआ हो
अंगूठुआ लगाए दीना हार रे बिदेशिया।
पाल के जहाजुआ मां रोय-धोय बैठी हो
कैसे होई काला पानी पार रे बिदेशिया।
जीअरा डराए घाट क्यों नहीं आए हो
बीते दिन कई भए मास रे बिदेशिया।
आई घाट देखा जब फिजीआ के टापुआ हो
भया मन हमरा उदास रे बिदेशिया।
कुदारी, कुरबाल दीना हाथुआ मां हमरे हो
धाम मां पसीनुआ बहाए रे बिदेशिया।
खेतुआ मां तास जब देवे कुलम्बरा हो
मार मार हुकुम चलाए रे बिदेशिया।
काली कोठरिया मां बीते नाहीं रतिया हो
किस के बयाई हम पीर रे बिदेशिया।
दिन रात बीती हमरी दुख में उमरिया हो
सुखा सब नैनुवा के नीर से बिदेशिया।
प्रस्तुत लोक-गीत में फिजी के मजदूरों का जैसा आर्तनाद चित्रित है वैसा ही मारिशस में गए एक मजदूर की वाणी में सुना जा सकता है—

सोनवा कारन अइलो, रामा एहीरे मिरिच देस
से गति गइले सोनवा सरीर, एहीरे मिरिच देस ॥

मारिशस में सोना पाने की लालच में ये लोग पहाड़ों तथा पत्थरों को काटते-काटते अपने सोने जैसे शरीर को भी गला चुके किन्तु सोना उन्हें नहीं मिला। अपितु उसके बदले अंग्रेजों की सुनहली चाबुकों उनके पीठ पर सड़ासड़ पड़ती थी जिसकी चोट से उनके शरीर की चमड़ी गजों ऊपर कटकर दूर गिरती थी। हिन्दी के अमर कथाकार श्री प्रेमचन्द ने 'शूद्रा' नामक अपनी कहानी में इसी 'मिरिच देश' को आधार बनाकर लिखी है। मारिशस को पहले 'मारीच देश' भी कहा जाता था। उसी का अपभ्रंश रूप मिरिच देश है। मारिशस में हिन्दी लोक-साहित्य को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है श्री प्रह्लाद रामशरण ने। इन्होंने 'मारिशस की लोक कथाएँ' नामक पुस्तक हिन्दी में लिखी है। प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक को उ० प्र० सरकार ने पुरस्कृत कर वहाँ के लोक साहित्य का उचित ही सम्मान किया है। प्रो० वासुदेव विष्णुदयाल, सोमदत्त बखौरी, ब्रजेन्द्र कुमार भगत, जय नारायण राय, आदि लेखकों ने भी अपनी रचनाओं में लोक-साहित्य को स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर अभिमन्यु अनंत, रामदेव धुरन्धर, सुश्री भानमती नागदान, इन्द्रदेव भोला, अस्तानन्द सदासिंह आदि रचनाकार भी लोक-कथाएँ लिखते रहते हैं। मारिशस की लोक-कथाओं में भोजपुरी और अवधी बोली का ही पुट अधिक रहता है जिससे उसके मौलिक रूप का सहज ही परिचय मिल जाता है। यहाँ मौखिक रूप से आल्हा, चनैनी, सारंगा-सदावृक्ष, बनजरवा, तोता-मैना, लोक-काव्य अधिक प्रचलित हैं। यदि इन्हें संकलित कर पुस्तकीय रूप दे दिया जाय तो निश्चय ही इस विधा के अनुपम रत्न प्रमाणित हो सकते हैं और इसी के आधार पर वर्तमान मारिशस का हिन्दी साहित्य देखा एवं परखा जा सकता है।

सूरीनाम जाने वाले मजदूरों ने अपनी आप बीती को एक ऐसे लोक-गीत में व्यक्त किया है जिसमें उनके साथ हुए अमानवीय व्यवहारों का ब्रीड़ात्मक रूप देखने को मिलता है—

अब से खबरदार रहो भाई ।
तेरी ब्रिगड़ी बात बन जाई ॥ टेक ॥
कलकत्ते में भरती करके भेज दिए जब भाई ।
लाय उतारे सुरिनाम में डीपू में भात खवाई ॥
तीन महीने जलयान सफर में लाख भपेड़े खाई ।
श्री राम नगर की चर्चा करके सुरिनाम दिए पहुंचाई ॥
होत सवेरा नाम बुलाकर बकड़ा ने बात सुनाई ।
पांच साल कन्नाक काट लो फिर भारत देब पहुंचाई ॥
टांगा कटलिस हाथ में लेकर जंगल काटो जाई ।
चिउंटा-चिउंटी काटन लागे हाय-हाय चिल्लाई ॥
जंगल काटे, कोको* काटे बाना दिए लगाई ।
ईख काट, पकाय, के हमने शुकुरु दिए बनाई ॥

कन्नाक काट कर कुछ लोगों ने भारत गए पराई ।
रह गए जो सुरिनाम में अपना-अपना घर बसाई ॥
चौतीस हजार भारती आए थे बारा हजार गए लौटाई ।
बाईस हजार जो बचे थे यारो वो अब डेढ़ सौ हजार हो आई ॥
1873 से 1916 तक चौंसठ जलयान यहां आई ।
जहाजी बनकर आए थे सब बनकर रहे जहाजी भाई ॥
भारती सुरिनाम में आए हिंदु, मुस्लिम, सिख, ईसाई ।
भाग्य कहां, दुर्भाग्य कहां, 'किशोर', समझ में कुछ नहीं आई ॥

इस लोक गीत के रचयिता पं० किशोर महताब सिंह हैं जो कि सूरीनाम के प्रसिद्ध लोकगीतकार हैं। पं० रामप्रसाद राम-खेलावन भी सूरीनाम के एक सर्वश्रेष्ठ लोक गायक रचनाकार हैं। सूरीनाम में 'बैठकनामा' एक संस्था है। जो कि वहाँ के सामाजिक उत्सवों के समय लोक-गीत, गायन, वादन, लोक नाट्य नौटंकी, नृत्य आदि कार्यक्रमों को आयोजित करती है। इसी संस्था के माध्यम से सूरीनाम में हिन्दी लोक-साहित्य आज तक सुरक्षित है। डा० ज्ञान हंस अधीन वहाँ के उच्च कोटि के हिन्दी लेखक हैं। इन्होंने हिन्दी साहित्य में शोध कार्य किया है। आपने सूरीनाम के हिन्दी लोक-साहित्य को सुरक्षित करने के लिए वहाँ की सरकार से प्रयास करके 'सरनामी लिपि एवं साहित्य' को मान्यता दिलाने का लक्ष्य कर रखा है जिसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली है।

ट्रिनीडाड द्वीप समूह में भी हिन्दी भाषी लोग बहुतायत से हैं। इसी को वेस्ट इंडीज भी कहते हैं। यहाँ भी हिन्दी लोक साहित्य का पर्याप्त प्रचार-प्रसार है। प्रो० हरिशंकर आदेश एवं उनकी पत्नी श्रीमती निर्मला आदेश ने इस विद्या को अब तक जीवित रखा है। उनके 'भारतीय विद्या संस्थान' में भारतीय लोक-संगीत, लोक-नाट्य, लोक-मंच एवं लोक-वाद्य की विधिवत शिक्षा दीक्षा दी जाती है। इस समय इनके अतिरिक्त श्रीमती तारा विष्णुदयाल सिंह 'उषा', कालीचरण दुखी, कुमार सत्यकेतु आदि लोक भाषा में लोक संस्कार को गति प्रदान किए हुए हैं। श्री मोहन श्यामलाल ने 'ट्रिनीडाड में 'भारतीय लोक संगीत' शीर्षक से एक शोध-प्रबन्ध भी लिखा है जिसमें ट्रिनीडाड के लोक-साहित्य पर प्रचुर सामग्री दी गयी है। अभी यह शोध-प्रबन्ध अप्रकाशित है। इसी तरह श्रीमती तारा विष्णुदयाल सिंह 'उषा' जो कि ट्रिनीडाड की उच्चकोटि की कवयित्री हैं, ने भी 'भारतीय' संगीत में घरानो का योगदान पर एक लघु शोध-प्रबन्ध लिखा है जो कि भारतीय विद्या संस्थान, ट्रिनीडाड द्वारा अलंकृत हो चुका है। अभी यह प्रबन्ध भी अप्रकाशित है।

गुयाना में पं० रामलाल ने हिन्दी लोक साहित्य को अपनी लेखनी से सुरक्षित कर रखा है। उन्होंने भारतीय संस्कारों एवं

* एक वृक्ष जिसके डाल एवं पत्ते सभी में कांटे होते हैं।

लोक चर्चाओं पर पर्याप्त कार्य किया है। यहीं के पं० गोकर्ण शर्मा ने भी भारतीय लोक कथाओं को मौखिक रूप से व्यक्त कर उसका प्रचार करने में अपना अमिट योगदान दे रहे हैं।

फिजी द्वीप समूह में हिन्दी लोक साहित्य पर पं० विवेकानन्द शर्मा ने प्रशंसनीय कार्य किया है। फिजी की लोक कथाओं पर इनकी दो पुस्तकें—प्रशान्त की लहरें, भाग एक और दो भारत से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कार पर भी छोटी-छोटी कई पुस्तकें आपने लिखी हैं, जैसे—फिजी के भारतीय पर्व, प्रार्थना पुस्तक, हवन पुस्तिका आदि। फिजी में हिन्दी लोक साहित्य पर सर्वाधिक कार्य श्री जोगिन्दर सिंह कंवल और श्रीमती अमरजीत कंवल ने किया है। श्री कंवल के हिन्दी उपन्यास 'धरती मेरी माता' तथा 'सवेरा' में लोक भाषा और संस्कार के रूप सहज रूप में ही देखने को मिल जाते हैं। आपने बहुत से लोक नाट्य लिखे एवं अभिनीत कराए हैं। रेडियो फिजी से आपके लोक नाट्य बहुधा हिन्दा भाषा में प्रसारित होते रहते हैं। जैसे—हीर-रांभा, इन्सान जाग उठा, देखो वे लोग, आजादी की किरण आदि श्रीमती अमरजीत कंवल फिजी की सर्वश्रेष्ठ लोक गायिका एवं लोक गीतकार हैं। आपके रचे लोक संस्कार युक्त गीत पर बने कैसेट आज पूरे फिजी देश में घर-घर गाए एवं सुने जाते हैं। फिजी रेडियो एवं दूरदर्शन पर आपके रचे लोक-गीत बहु प्रचलित हैं। इसी प्रकार श्री बेनीलाल मोरिस की 'गली गली सीता रोए' नामक पुस्तक फिजी लोक-साहित्य की श्रेष्ठतम रचना है। फिजी लोक-साहित्य की भाषा में कुछ अंग्रेजी शब्दों को ध्वनि साम्य के आधार पर हिन्दीकरण कर प्रयोग किया जाता है जिसे वहाँ के प्रवासी भारतीय ही समझ सकते हैं, जैसे—Task, Cane-Top, Crowbar, Come Here (Tas, Kuntap, Kurbal, Kam-er). अर्थात् इसी को इस प्रकार प्रयोग किया जाता है—तास, कन्टाप, करवाल, कमेर आदि। प्रस्तुत लोक गीत में इसका प्रयोग किया गया है—

सब दुखखान सी० एस० आर० की कोठरिया
छः फुट चौड़ी आठ फुट लम्बी
उसी में धरी है कमाने की कुदरिया।
उसी में सिल उसी में चूल्हा
उसी में धरी है जलाने की लकरिया।
उसी में महल उसी में दोमहला
उसी में बनी है सोने की अटरिया।
यही में खाना यही में सोना, यही में बहुत पनरिया।
'तास' कड़ा सरदरवा देवे सर पै हनत कुदरिया
मूढ़ फटत है देह दुखत है टूटी जात कमरिया ॥

इस प्रकार फिजी में लोक भाषा के रूप को भावमय बनाकर अपना लिया गया है और आज वहाँ हिन्दी का लोक साहित्य श्रेष्ठतम साहित्य के रूप में माना जाता है।

बर्मा में हिन्दी के लोक साहित्य पर सर्वाधिक कार्य पं०

जगत नारायण उपाध्याय ने किया है। आपने मानस को आधार मानकर कई लोक कथाएं रची हैं। पं० श्यामा चरण मिश्र, पं० हरिवदन शर्मा, राम प्रसाद वर्मा आदि ने लोक साहित्य में अलम् कार्य किया है। रंगून से प्रकाशित हिन्दी मासिक पत्र 'ब्रह्माभूमि' के माध्यम से रामप्रसाद वर्मा ने वहाँ के लोक कथा को जीवन्त बना रखा है। आप अपनी पत्रिका में हर मास अनेक लोक कथाओं को प्रकाशित करते रहते हैं। इसी प्रकार डा० ओमप्रकाश अपनी वृद्धावस्था में भी हिन्दी लोक साहित्य को अपने व्याख्यानों का विषय बनाते रहते हैं। बर्मा के साहित्य पर पं० जगत नारायण उपाध्याय ने एक पुस्तक लिखी है जो कि प्रकाशन की प्रतीक्षा में है।

नेपाल में त्रिभुवन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० कृष्ण चन्द्र मिश्र ने सन्त साहित्य को आधार मानकर लोक रूढ़ियों, लोक-प्रवादों एवं लोक-चर्चाओं पर पर्याप्त अनुसंधान कर लेखनी चलायी है। जिसका प्रकाशन काठमाण्डौ से प्रकाशित हिन्दी त्रैमासिक पत्र 'साहित्य लोक' में होता रहता है। नेपाल के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री धूस्वां सायमि ने अपनी कृतियों में लोक साहित्य विद्या को संजो रखा है। स्व० भवानी भिक्षु, स्व० चन्द्रदेव ठाकुर चंचरीक, श्री बुन्नीलाल सिंह, डा० रामदयाल राकेश, दुर्गाप्रसाद श्रेष्ठ, धीरेन्द्र मल्ल, किशोर नेपाल आदि ने भी अपनी रचनाओं से हिन्दी लोक साहित्य की श्रीवृद्धि की है। 'नेपाल की लोक कथाएं' नाम से एक पुस्तक शीघ्र ही प्रकाश्य है।

श्रीलंका में भी हिन्दी लोक साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ है। केलनिया विश्वविद्यालय की हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० श्रीमती इन्द्रा दसनायके ने हिन्दी लोक साहित्य पर सन्तोषजनक कार्य किया है। आपने 'सिंहल द्वीप की लोरियां-एक आलोचनात्मक अध्ययन' नाम से एक पुस्तक लिखी है जो कि अभी अप्रकाशित है। इसमें बाल लोक साहित्य को लक्ष्य करके उसका मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पश्चिमी जर्मनी के डा० इन्दु प्रकाश पाण्डेय ने अवधी लोक साहित्य पर विशद कार्य किया है तथा इसी पर अपना अनुसंधान भी किया है। आपने अवधी लोक साहित्य पर दो पुस्तकें लिखी हैं। यद्यपि आप मूलतः भारतीय हैं किन्तु अब बहुत दिनों से जर्मनी में रहकर हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। इसी प्रकार इटली के डा० श्याम मनोहर पाण्डेय ने हिन्दी के प्रथम लोक-महाकाव्य 'चंदायन' पर विशेष कार्य किया है। मुल्ला दाऊद की इस रचना के विभिन्न गायकों के टेप आपके पास सुरक्षित हैं। उसी के आधार पर एक सर्वमान्य रूप पर चंदायन पुस्तक के संपादन में आप संलग्न हैं। वेनिस विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक डा० लक्ष्मण प्रसाद मिश्र ने भी हिन्दी लोक साहित्य पर कार्य किया है तथा इटली की लोक कथाओं पर कार्य कर उसका एक संकलन भी प्रकाशित करवाया है। चेकोस्लोवाकिया के हिन्दी विद्वान तथा चार्ल्स विश्वविद्यालय, प्राहा के हिन्दी विभागाध्यक्ष

डा० ओदोलन स्मेकल ने बारह चैक लोक कथाओं को हिन्दी में लिखकर एक पुस्तक का प्रकाशन किया है। आपने अपना शोध प्रबन्ध भी हिन्दी लोक साहित्य पर प्रस्तुत किया है। आपकी पत्नी श्रीमती हेलेना स्मेकल ने भी हिन्दी लोक कथाओं पर कार्य कर अपने लोक साहित्य रूचि को रूपायित किया है।

चीन में डा० श्रीमती उषा शर्मा ठाकुर वहां की लोक कथाओं के संकलन और उसे हिन्दी में प्रस्तुत करने की योजना पर कार्य कर रही हैं। जापान में श्री योशिकाकि सुजुकि, प्रो० के० दोई, डा० कात्सुरो कोगा आदि हिन्दी विद्वानों ने स्फुट रूप से हिन्दी लोक साहित्य पर कार्य किया है।

समस्याएं एवं संभावनाएं—जैसे-जैसे हिन्दी का वैश्विक मंच विस्तृत होता जा रहा है वैसे-वैसे उसकी समस्याएं एवं संभावनाएं भी बढ़ती जा रही हैं। लोक-साहित्य भारतीय जन-जीवन एवं उसकी अस्मिता की पहचान हेतु एक प्रमुख भूमिका का निर्वाह शताब्दियों से करता आ रहा है। इसलिए संसार के अनेक देशों में भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित हैं जहां अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रमों को प्रदर्शित एवं प्रसारित किया जाता है। इसीलिए आज विश्व के हिन्दी लोक साहित्यकार जहां बड़े उत्साह एवं प्रेम से इसकी रचना एवं संकलन में लीन हैं वहां उनकी रचनाओं के प्रकाशन की एक गंभीर समस्या भी विद्यमान है। प्रायः सभी देश के रचनाकार अपनी पाण्डुलिपि के प्रकाशन हेतु भारत की ओर आशा भरी दृष्टि से देखते रहते हैं पर इधर से कोई उत्साहवर्द्धक आश्वासन न मिलने से उन्हें बड़ी निराशा होती है। अतः इस अभाव में उनके कार्य को कैसे गतिशील बनाया जाय ? यह एक विकट समस्या है। क्योंकि मारिशस, फिजी आदि देशों को छोड़ अन्य किसी भी भारतेतर देश में हिन्दी प्रेस नहीं है और प्रकाशक तो वहां हैं ही नहीं। अतः उनकी पाण्डुलिपि को प्रकाशन के लिए भारतीय प्रकाशकों को साहस के साथ आगे आना पड़ेगा। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग को भी इस ओर आवश्यक पहल कर उसे कार्यरूप देना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस समय फिजी, मारिशस, सूरीनाम, ट्रिनीडाड, गुयाना आदि देशों में मौखिक रूप में अपार लोक-साहित्य भरा पड़ा है, जैसे-बिरहा, कजरी, सोहर, चनैनी, रसिया, विदेसिया, सारंगा-सदा वृक्ष, लोरिक चन्दा, तोता-मना, इन्दर सभा आदि। इनके गायक एवं वक्ता बहुधा वृद्ध एवं वृद्धाएं हैं जो कि अपने पोपले गालों में भारत की इस अपार सम्पदा को संजोए हैं। यदि इन्हें समय रहते टेप करके या सुनकर लिपिवद्ध न कर लिया गया तो काल की आंधी नहीं अपितु पाश्चात्य सांस्कृतिक दावानल में ये सब जलकर खाक हो जाएंगे। अतः समय रहते इस दिशा में योजना बद्ध रूप से सतत कार्य करने की महती आवश्यकता है। साथ ही भारतेतर हिन्दी लोक साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी गौरवपूर्ण स्थान देना चाहिए। मुझे यह कहते हुए गर्व है कि मैंने अपने प्रस्ताविक

अनुवाद में साहित्य पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय भाषा स्कूल के तत्वाधान में अगले वर्ष के आरम्भ में अनुवाद में साहित्य पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन कर रहा है। इसकी तिथि 15-20 मार्च नियत की गई है।

इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक तथा अकादमिक कृतियों के अनुवाद के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य तथा विदेशी भाषाओं और साहित्य को पारस्परिक तौर पर नजदीक लाना है।

सम्मेलन में प्रमुखतः पांच विषयों पर विचार होगा। ये हैं : साहित्यिक अनुवादों के सैद्धान्तिक पक्ष विश्व स्तर के गौरव ग्रंथों के अनुवाद की समस्या, साहित्यिक अनुवाद का सौंदर्य, सांस्कृतिक पहचान तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान की समस्याएं और जन संचार के लिए साहित्यिक कृतियों के रूपांतरण एवं डबिंग की समस्या।

सम्मेलन की संगठन समिति के संयोजक भाषा—स्कूल के डा० सत्य भूषण वर्मा हैं।

‘विश्व हिन्दी साहित्य का इतिहास’ में इसे पर्याप्त स्थान देने का प्रयास किया है। यह इतिहास विगत कई वर्षों से लिखा जा रहा है। जब भारतेतर हिन्दी लोक साहित्य को भारत में मान्यता मिल जाय तो हमारा लोक साहित्य निश्चय ही अपने लोक-रस को प्राप्त होने में सफल हो सकता है। जिस लोक साहित्य के माध्यम से भारत के असंख्य मजदूरों ने अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए भारत की प्रतिष्ठा रखी है उसी लोक-साहित्य को एक बार पुनः संजोने एवं संवारने की आवश्यकता आ पड़ी है। तभी हिन्दी को ‘विश्व भाषा’ बनाने का स्वप्न साकार हो सकेगा। □

अध्यक्ष एवं शोध-निर्देशक,
हिन्दी विभाग, जे० एस० हिन्दू कालेज,
अमरोहा—244221, उ०प्र०।

एशियाई भाषाएं और हिन्दी

★ डा० प्रभाकर माचवे

एक छोटे से लेख में सभी एशियाई भाषाओं के बारे में लिखना संभव नहीं। परन्तु कुछ प्रमुख भाषाओं की चर्चा करना चाहूंगा। यूरोशिया भाषा-परिवार के अन्तर्गत निम्न दस भाषा परिवार आते हैं: (1) द्रविड़ (2) योरोपीय (3) कार्कशी (4) बुशरफी (5) यूराल अल्ताई (6) बास्क (7) चीनी (8) हाइपर बोरी या 'अत्युत्तरी' (9) जापानी कोरियाई (10) सामी-हामी (सेमेरिक-हेमेरिक)। इनमें से पहले दो तो भारत में हैं ही। भारत से बाहर प्रचलित भाषाओं के आठ परिवारों का संक्षिप्त परिचय देता हूं। इनसे पता चलेगा कि हिन्दी में इन भाषाओं में से कितनी कम भाषाओं पर पुस्तकें हैं। मेरी जानकारी में केवल नेपाली, सिहली, ईरानी (फारसी), इंदोनेसी, तिब्बती थोड़ी बहुत जापानी के बारे में (साहित्य पर अधिक-भाषाओं पर कम) पुस्तकें हिन्दी में मिलती हैं। शेष सब क्षेत्र अछूते पड़े हैं। निकटस्थ प्रतिवेशों पाकिस्तान की भाषा उर्दू है, और बांग्लादेश की भाषा बांग्ला— जो दोनों ही भारतीय तथा पंद्रह भाषाओं में शामिल हैं, इसलिए उनकी चर्चा नहीं करूंगा।

शब्द-साम्यता से भाषाएं समान नहीं हो जाती। अंग्रेजी 'दिवाल' और हिन्दी 'दीवाल' का उदाहरण यहां लीजिये या चाय के लिए चीनी, तुर्की, रूसी, हिन्दी सबमें 'चाय' शब्द चलता है। इससे ये भाषाएं एक परिवार की नहीं हुईं। चीनी में बिल्ली को 'म्याऊ' कहते हैं, इससे वह हिन्दी से शब्द वहां पहुंचा यह नहीं कहा जा सकता। जर्मन 'मान' और कोरियाई भाषा में 'मान' का अर्थ एक ही है - 'मनुष्य'। इससे दोनों एक नहीं हुईं।

इन भाषाओं के इतिहास से पता चलता है कि कई भाषाएं विलुप्त हो गईं—जैसे सुमेरियन, जो चार हजार वर्ष ईसा पूर्व की भाषा थी। पाश्चात्य विद्वान सेमेटिक भाषाओं को (यानी अरबी-हिब्रू आदि) योरोपीय भाषाओं से 800 वर्ष पुरानी मानते हैं। भारोपीय 2000 ईसा पूर्व की हैं, जैसे वैदिक संस्कृत। चीनी

1500 ईसा पूर्व। द्राविड़ भाषाएं 500 ईसा पूर्व। ये सब भाषाओं की उम्रें अंदाज से ही लगाई गई हैं।

शतम्-वर्ग की भारोपीय भाषाओं में एशियाई संख्यावाचक शब्दों का साम्य लक्षणीय है। जैसे हिन्दी का 'सौ', संस्कृत के शतम् से आया। उसे अवेस्ता (पुरानी पारसी) में 'सतम्' फारसी में 'सद्', रूसी में 'स्तो' और लिथुआनी भाषा में 'स्त्रिम्तास' कहते हैं।

बाल्टो-स्लाविक या लेट्टो-स्लाविक भाषाओं में रूस के लिथु-आनिया की भाषा महत्वपूर्ण है। चौथी शताब्दी ई० की गाथी भाषा के समान है। उसमें वैदिक संस्कृत और यूनानी जैसी संगीतात्मकता थी। लेट्टिक भाषा भी गुर्जरी प्राकृत से मिलती जुलती है। गुजरात का 'लाट' प्रदेश नाम, लैट्विया के समान है। रूस के दक्षिणी भाग युक्राइन में 'रुथनी' भाषा बोली जाती है। इसका भी भारोपीय भाषाओं से साम्य है।

आर्मीनी भाषा में दो हजार से अधिक शब्द ईरानी के हैं। आर्मीनिया की शिक्षा, कला, शासन कार्य में ईरानी भाषा प्रयुक्त होती है। पर भारत में जैसे धार्मिक कार्यों में वैदिक संस्कृत प्रयुक्त होती है, वहां पुरोहित प्राचीन आर्मीनी का प्रयोग करते हैं।

हिट्टाइट या हित्ती में 2000 ईसा पूर्व के प्राचीनतम अभिलेख मिलते हैं उन्हें 'क्यूनीफार्म' (कीलाक्षर) कहते हैं। प्रो० हज्जी ने सिद्ध किया कि यह भारोपीय परिवार की ही भाषा है। इस भाषा में स्त्री लिंग होता ही नहीं। केवल पुल्लिंग और नपुंसक लिंग है। इस भाषा में वैदिक देवों के नाम-साम्य वाले देव नाम हैं, यथा मरुतश, शरीयश, इन्दर, उरुवन।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मध्य एशिया के तुफान प्रदेश में ब्राह्मी और खरोष्ठी में लिखे अनेक ग्रंथ और पत्र प्राप्त हुए। प्रो० सींग ने इन्हें भारोपीय परिवार की भाषा बोलने वाला कहा है। महाभारत में इन्हें 'तुषारा' कहा है। मध्य एशिया में तोखर दूसरी से सातवीं सदी तक राज्य करते थे। बाद में हूणों ने उन्हें नष्ट किया।

बुरुशस्की और अंडमानी भाषा में साम्य है। पर इसके बोलने वाले बहुत कम होते जा रहे हैं। एशियाई भाषाओं में कार्कशी परिवार की जार्जियन, मिग्रोलियन, लातिश, स्वानियन भाषाएं आती हैं, और यूराल-अल्ताई परिवार की, मंगोली और मंचूई। चीनी परिवार में थाई या स्थायी, ब्रह्मी, तिब्बती अनामी (कंबोडिया, कोचीन, चीन, रोंकिन में प्रयुक्त) भाषाएं आती हैं। चीनी में चार हजार बरस पुराना साहित्य मिलता है। शब्द संख्या 'कन्फ्यूशस' के ग्रंथों में ही 42 हजार के करीब है। साधारण व्यवहार के लिए 4000 शब्द प्रयोग में आते हैं। इसकी चित्र लिपि है।

एक-एक अक्षर लिखने के लिए एक सत्रह 'आघात' तुली के

(स्ट्रोकस) देने पड़ते हैं। चीनी, वादई, तिब्बती या ओट भाषा की विशेषता यह है कि 'सुर' (टोन) के भेद से एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। चीनी में हर शब्द के चार सुर होते हैं— नीचा, निम्नमध्य, निम्नउच्च, ऊँचा।

जापानी की नवीन लिपि जब बनाई गई तो एक संस्कृतज्ञ ने बनाई। इसलिए जापानी वर्णमाला को 'अ ह उ ए ओ' कहते हैं। जापानी के लिखित और मौखिक रूप में बहुत अन्तर है। उसे एकरूप बनाने की कोशिश हो रही है। बांग्ला में भी ऐसा ही है। हिन्दी में हम बोलते हैं इस्ने, किसने, उसका मगर लिखते हैं इसे, किसने, उसका आदि।

कोरियाई भाषा में चीनी शब्द अधिक हैं। पंद्रहवीं सदी तक चीनी लिपि चलती थी। अब इसकी अपनी लिपि है। यह लिपि संस्कृत (देवनागरी) पर अश्रित है। इन भाषाओं में द्विवचन से बहुवचन हो जाता है। जैसे यामा, यानी पहाड़। 'यामायामा' यानी कई पहाड़। व्याकरण में लिंग नहीं होता। शब्द के पहले 'ओ' (पुरुषवाचक), में (स्त्री वाचक) लगा देने से लिंगबोध कराया जाता है। वचन, पुरुष की धारणा अस्पष्ट है।

सामी भाषाएं एशिया में अरब मुमालिक, ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया में बोली जाती है। हामी अफ्रीका में। हजरत नूह के ज्येष्ठ पुत्र थे 'सैम'। बाइबिल की कथा के अनुसार वे ही सामी भाषाओं के आदि पुरुष हैं। मोरक्को और अल्जीरिया की राजभाषा भी अरबी है। सामी जबानों में 'मादा' (धातुएं) अक्सर तीन वर्गों की होती हैं : क त ब, क त ल, स ज द, स ल भ, आदि। उन्हीं से अन्तर्याम से कई रूप बन जाते हैं। क त ब से कुतुब, कातिब, किताब, मकतब, मकतूब, कुतुबखाना आदि आदि।

मलय-पोलिनेशियाई परिवार की प्रमुख भाषाएं हैं।

(1) इंडोनेशियाई जिसमें मलय, जावी, सुन्दियन, दयक (बोर्नियो में) फारमोसी, मलगसी, तगल आदि।

(2) पेलानेशियाई—फिजी की भाषा

(3) मिक्रोनेशियाई—कैरोलिन, मार्शल आदि छोटे द्वीपों की भाषाएं

(4) पोलिनेशियाई—मओरी, हवाई, टोंगा, समोआ की भाषाएं

जावा सुमात्रा की भाषाएं संस्कृत प्रभावित 'कवि' कहलाती थी। अरबी, संस्कृत मिश्रित शब्द मिलते हैं। जैसे जवाहर मणिकम्। जावा में व्यक्ति तथा नगरों के नाम संस्कृत पर

आधारित हैं, जैसे सोकनो (सुकर्ण), सुहातो (सुहृत्) जोजकर्ता (अयोध्या कृत) बोएदिर्म (बोधधर्म) आदि।

दक्षिण पूर्वी एशियाई भाषाएं आस्ट्रिक परिवार की मानी जाती हैं। पश्चिम की मुण्डा या कोल, मध्य में मोर खमेर और पूर्व में अनामी, मुआड कहलाती है। दक्षिण में निकोबार की भाषा ऐसी ही है।

ईरानी भाषा पहले अवेस्ता और प्राचीन फारसी कहलाती थी। मध्य युग में वही पहलवी बनी। आधुनिक काल में उसके अनेक रूप हैं : पश्तो, बलूची, पामीरी, कुर्दिश, फारसी। फारसी में महाकवि फिरीदौसी (940-1020 ईस्वी) का 'शाहनामा' महाकाव्य प्रसिद्ध है। उसमें अरबी शब्द अधिक नहीं थे। अब 70 प्रतिशत अरबी हैं। अफगानिस्तान की भाषा पश्तो है। बिलोचीस्तान की बलूची। पंजाबी प्राकृत का अवशेष रूप 'दरद' भाषाएं हैं—लोवारी, चित्राली और गिलीगेट की शीत्र।

नेपाली का उत्तम अध्ययन टर्नर की 'नेपाली डिक्शनरी' से शुरू हुआ। पहले नेवारी को ही नेपाली मानते थे। अब अनेक नई बोलियां प्रकाश में आईं। 1930 के शासकीय अध्यादेश से गोरखाली ही नेपाल की राष्ट्रभाषा नेपाली बनी। नेपाली भाषा का क्रमिक इतिहास नरहरिनाथ पंडित और बाबूराम आचार्य ने लिखा। बालकृष्ण पुरवानील ने भी अच्छा इतिहास लिखा है। रोम, लन्दन के मित्रज में नेपाली पर शोधकार्य हो रहा है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से डा० दयानन्द श्रीवास्तव का इस विषय पर उत्तम कार्य हुआ था। स्टाकहोम विश्वविद्यालय में नेवारी पर काम हो रहा है। व्याकरण और कोश अनेक हैं। नेपाली की लिपि देवनागरी ही है।

सिंहली में और अच्छा कार्य 1965 में भाषाविज्ञान परिषद की स्थापना के बाद हुआ। मैं 1963 में श्री लंका गया था, जब बौद्ध साहित्य के विश्वकोश का संपादन आरम्भ ही हुआ था। मार्टिन बिक्रमसिंह, सुगतपाल, वी सिल्वा, हेति आरची, के० कुलावाला, पेरेरा, पार्श आदि का काम बहुत उपयोगी है।

यह सब प्राथमिक जानकारी इसलिए मैंने दी कि हिन्दी में एशियाई भाषाओं के बारे में बहुत कम सामग्री मिलती है। न कोश हैं, न व्याकरण। न उन भाषाओं के साहित्येतिहास, न साहित्य से नमूनों के अनुवाद ही अधिक है। इस दिशा में तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन को सोचना चाहिए। □

निवेशक, भारतीय भाषा परिषद

36 ए, ब्रिक्सपियर सरणि, कलकत्ता—700017

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन : सम्भावनाएं

★ अमरेन्द्र मिश्र

हिन्दी भारत जैसे विशाल देश की राजभाषा है। गत वर्षों में विश्व के अनेक देशों में इसका प्रसार बहुत तेजी से हुआ है, जिसके कारण यह एक वैश्विक की संपर्क-भाषा का रूप ग्रहण करती जा रही है। विश्व के पांचों प्रमुख महाद्वीपों के अनेक देशों में भारतीय मूल के लोग हजारों की संख्या में रहते हैं, हिन्दी उनकी मातृभाषा के रूप में बोली और समझी जाती है। इन लोगों ने ना केवल हिन्दी को अपनी मातृभाषा के रूप में अपनाए रखा है बल्कि ये भारतीय संस्कृति को भी अभी तक अपने सीने से चिपकाए हुए हैं। इसके अतिरिक्त अभी तक विश्व के सौ से भी अधिक विश्व-विद्यालयों में इसके अध्ययन-अध्यापन और शोध की व्यवस्था हो चुकी है। इस कारण भी इसके प्रसार को और गति मिली है। देश के स्वतंत्र होने के बाद से अब तक हिन्दी के कई यशस्वी लेखकों की कृतियों का अनुवाद एकाधिक विदेशी भाषों में भी हुआ है, जिसके कारण उन्हें अत्याधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। अब कई विदेशी साहित्यकार न केवल हिन्दी में शोध कार्य और अनुवाद करने लगे हैं बल्कि मौलिक साहित्य का भी सृजन कर रहे हैं।

देश हो चाहे विदेश हिन्दी का जहां भी प्रसार हुआ, इसकी सहजता और सुगमता के कारण अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। भारत में विभिन्न क्षेत्रों के तीर्थयात्री सैकड़ों वर्षों से संपर्क-भाषा के रूप में इसका प्रयोग करते आ रहे हैं और इस प्रक्रिया में विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग भाषाएं बोली और समझी जाने के कारण कोई व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ है। इसके भाषाई गुणों के कारण ही देश के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों ने इसे स्वेच्छा से अपनाया है। अनेक क्षेत्रों में बोली और समझी जाने के कारण इसके शब्द-भण्डार में भी प्रचुर वृद्धि हुई है। इस प्रकार बंगाल से गुजरात और कश्मीर से कन्या-कुमारी तक बोली जाने वाली अलग-अलग भाषाओं के शब्द हजारों की तादाद में इसमें आ गए हैं। इसकी एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इसके प्रचार-प्रसार में हिन्दी भाषी क्षेत्रों के लोगों ने ही नहीं बल्कि हिन्दीतर क्षेत्रों के निवासियों ने भी अपना हार्दिक योगदान दिया है।

स्पष्ट है कि हाल के वर्षों में हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय छवि में बहुत निखार आया है। गत दस वर्षों की अवधि में इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की एक आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता दिलाने के लिए प्रयत्न किए गए जिसमें विश्व हिन्दी सम्मेलनों ने अग्रणी भूमिका निभाई है। पहला विश्व हिन्दी सम्मेलन जनवरी, 1975 में नागपुर में संपन्न हुआ तथा दूसरा इसके अगले वर्ष मारीशस में, तीसरा सम्मेलन अब नई दिल्ली में हो रहा है। अतएव: यह उचित होगा कि हम इस अवसर पर गत दो सम्मेलनों की उपलब्धियों पर एक सरसरी नजर डालें तथा तीसरे सम्मेलन की सम्भावनाओं पर विचार करें।

प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन जनवरी 1975 में नागपुर में संपन्न हुआ। संसारभर के लगभग 30 देशों के प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया। प्रायः सभी देशों के प्रतिनिधियों ने एक स्वर से हिन्दी की महत्ता को स्वीकार करते हुए यह मांग की कि हिन्दी को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समुचित स्थान मिलना चाहिए। यह महसूस किया गया कि हिन्दी सिर्फ संख्या के ही बल पर नहीं बल्कि अपने अंतर्निहित गुणों के कारण भी इसकी अधिकारिणी है और इसकी चतुर्दिक प्रतिष्ठा का दायित्व भारत के लोगों पर ही है। सम्मेलन में विदेशी कलाकारों ने 'धर्मयुग' के यशस्वी संपादक डा० धर्मवीर भारती के प्रसिद्ध नाटक 'अंधायुग' का मंचन किया। यह सम्मेलन लगातार तीन दिनों तक चलता रहा।

नागपुर के विश्व हिन्दी सम्मेलन का तो पहली बारहखड़ी से ही श्रीगणेश हुआ था। उसके पूर्व कोई अनुभव नहीं था, कोई परंपरा या मार्गदर्शन नहीं था कोई बना बनाया पथ निर्देश नहीं था जिसकी मदद ली जा सके। राजनीतिक वातावरण भी विशेष अनुकूल नहीं था। उस समय वास्तव में हिन्दी का प्रश्न भी राजनीति से उलझकर विवादास्पद बन गया था। सन् 1965 में दक्षिण भारत के कुछ स्थानों पर हिन्दी के विरोध में दंगे हुए जिससे वातावरण में तलखी आयी थी। यह कहने की जरूरत नहीं कि भाषा, धर्म या जाति की या वर्ण की समस्याएं

वैसे भी नाजुक होती हैं। विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन के पूर्व इस बात का ध्यानपूर्वक विचार किया गया कि हिंदी के विषय में जो भ्रांतियाँ फैली दीख पड़ती हैं उनके कारणों की खोज करनी चाहिए।

प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन : उपलब्धियाँ, सीमाएँ

इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन में एक विशाल वैश्विक दृष्टि रखी गई थी। इसका व्यापक स्तर पर स्वागत भी हुआ। यूरोप, अमेरिका, लेटिन अमेरिका, अफ्रीका एवं एशिया—इन पाँच महाद्वीपों के अनेक प्रतिनिधि नागपुर आए। विशेष रूप से यूनेस्को ने अपना विशेष प्रतिनिधि भेजा। यह सम्मेलन के महत्व की स्वीकृति थी।

संघ में हिंदी को अधिकारिक भाषा के रूप में स्थान प्राप्त हो (ख) विश्व हिंदी सम्मेलन की उपलब्धियों को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से एक योजना का निर्माण।

नागपुर का अधिवेशन सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। चूंकि यह प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन था और ठीक वर्षभर के बाद द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन मारीशस में होना था। अतः प्रथम सम्मेलन की उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी कुछ सीमाएँ भी रही। जिसकी पूर्ति द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन में होनी थी।

द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन : हिंदी के बढ़ते कदम

नागपुर के अधिवेशन ने यह प्रतीति कराई कि भाषा के



चित्र (बायें) द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन के उद्घाटनकर्ता डा० सर शिवसागर रामगुलाम और अध्यक्ष डा० कर्णसिंह।
दायें चित्र में मारिशस हवाई अड्डे पर भारतीय प्रतिनिधि मंडल का स्वागत।

प्रथम विश्वहिंदी सम्मेलन में जिन विषयों पर विचार हुआ, वे हैं—(1) हिंदी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति (2) विश्व मानव की चेतना, भारत तथा हिंदी (3) आधुनिक युग एवं हिंदी : आवश्यकता और उपलब्धियाँ। 'विश्व मानव की चेतना, भारत तथा हिंदी' इस विषय के अंतर्गत तीन विचार गोष्ठियाँ हुई (क) शाश्वत मूल्यों की खोज, (ख) जन-संचार के साधनों की भूमिका (ग) विश्व मानव का मूल्यगत संकट और भाषा तथा लेखन के संदर्भ में युवा पीढ़ी की मानसिकता।

तीसरा विषय हिंदी के व्यावहारिक पक्ष से संबंधित था (क) प्रशासन विधि और विधायी कार्यों की भाषा (ख) ज्ञान-विज्ञान का माध्यम (ग) भाषा शिक्षा एवं सहायक सामग्री। इसके बाद तीन निर्णय और भी लिए गए (क) संयुक्त राष्ट्र

रूप में हिंदी का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संपर्क स्थान बनता जा रहा है। हिंदी का प्रसार जब और जहाँ भी हुआ साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को लेकर नहीं हुआ। उसके साथ न कभी तलवार गई न तराजू। यह भारत की सामाजिक संस्कृति की भाषा रही है। इस संस्कृति ने न तो कभी किसी की जमीन पर, न किसी इन्सान पर हुकूमत करने का स्वप्न देखा है। जैसा कि विदित है, जब कभी हमारे देश के लोग बाहर गए तो वे या तो भगवान बुद्ध के भिक्षुओं की तरह या स्वामी विवेकानंद जैसे परिव्राजकों की तरह आत्मा की भव्यता और दिव्यता का संदेह लेकर ही गए हैं ताकि मानव अपने भीतर बसने वाले देवता को पहचाने और प्रेम और मैत्री के साथ रहकर फले-फूले। हिंदी इसी संदेश को लेकर चली।

प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में लिये गये निर्णयों के आधार पर हिंदी के प्रचार-प्रसार और उसे व्यापक परिवेश प्रदान करने के लिए द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन मारीशस में किया गया। तीन दिनों तक चलने वाले इस अधिवेशन में चार विचार-सूत्र रखे गए थे—(क) हिंदी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति और स्वरूप (ख) जन-संचार के साधन और (ग) हिंदी के प्रचार में स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका और (घ) विश्व में हिंदी के पठन-पाठन की समस्या को परिसंवाद के रूप में प्रस्तुत करना।

उपरोक्त विचार सूत्रों को मारीशस आए अनेक विद्वानों ने आगे बढ़ाया तथा निर्दिष्ट विषयों पर अपने-अपने विचार प्रकट किए। यह भी कहा गया कि आज से एक सौ चालीस वर्ष पूर्व जब भारतीय मजदूर मारीशस पहुंचे तो अपने साथ अपनी भाषा एवं अपनी महान सांस्कृतिक परंपराएं भी लाए। भाषा एवं संस्कृति के उन्नयन के विचार को मूर्त रूप देने के लिये ही 3 जून 1972 को भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के कर कमलों द्वारा कामा की सुरभ्य पहाड़ियों में महात्मा गांधी-संस्थान की आधारशिला रखी गयी और अक्टूबर 1976 को उन्हीं के द्वारा इस भव्य भवन का उद्घाटन हुआ। इसी में अफ्रीका एकता संगठन का वह ऐतिहासिक अधिवेशन हुआ जिसमें हमारी प्रधानमंत्री को इस महत्वपूर्ण संगठन का प्रधान चुना गया। द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन जैसा महत्वपूर्ण सम्मेलन भी इसी संस्थान में संपन्न हुआ।

द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन की सफलता की पुष्टि सभी प्रतिनिधियों ने की। इस सम्मेलन में कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए जो इस प्रकार हैं।

इस अधिवेशन ने प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के बोध वाक्य “वसुधैव कुटुंबकम्” को स्वीकार किया जिसके अनुसार विश्व की परिकल्पना एक परिवार के रूप में की गयी है। सम्मेलन में उसी दृष्टिकोण को दोहराया गया जो प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में दोहराया गया था। वह दृष्टिकोण था हिन्दी के मामले में किसी प्रकार की जबरदस्ती या लादने की दृष्टि न रखी जाए।

1. इस अधिवेशन में मारीशस के अलावा जिन देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया उनमें भारत, इंग्लैंड, फ्रांस फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, जर्मन जनवादी गणतंत्र, चेकोस्लोवाकिया, इटली, स्वीडन, हंगरी, कीनिया, जांबिया मालदीव तंजानिया, मैडागास्कर, रीयूनियन द्वीप समूह आदि देश सम्मिलित हैं।

(3. सम्मेलन ने प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में पारित इस प्रस्ताव को दोहराया कि हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ में एक अधिकारिक भाषा के रूप में स्थान मिले और यह सिफारिश की कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक क्रमबद्ध कार्यक्रम अपनाया जाए।

4. सम्मेलन में समाचारों के संकलन के बारे में निर्गुट देशों के सम्मेलन का भी स्वागत किया गया जिस में सभी संवाद समितियों का एक पूल बनाने का निर्णय लिया गया। सम्मेलन की धारणा रही कि जन-संचार के अन्य साधनों-रेडियो, टेली-विजन फिल्म और अन्य प्रकार के वैज्ञानिक उपकरणों का हिन्दी के प्रचार-प्रसार में उपयोग किया जाए ताकि वह एक विश्व परिवार की उदात्त भावना का प्रचार कर सके।

5. सम्मेलन की यह धारणा रही कि मारीशस, फिजी, त्रिनीनाद, गुयाना जैसे देशों में वहां की स्वैच्छिक संस्थाओं ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के कार्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया है और यह माना गया कि इन सभी संस्थाओं को उन देशों की सरकारों तथा जनता से सहायता मिलनी चाहिए।

6. सम्मेलन ने विश्व के अनेक देशों में हिन्दी की पठन-पाठन संबंधी समस्याओं पर भी विचार किया और इसमें पाठ्य पुस्तकों, वैज्ञानिक उपकरणों तथा अन्य बातों के अभाव में किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, पर भी विचार किया गया।

7. सम्मेलन के मारीशस में सम्पन्न होने पर सभी प्रतिनिधियों ने प्रसन्नता व्यक्त की।

8. द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी प्रतिनिधियों और पर्यवेक्षकों का यह मत रहा कि यह सम्मेलन मात्र हिन्दी के ही इतिहास में नहीं, बल्कि मानवता की निरंतर यात्रा में भी एक युगांतकारी घटना है। सम्मेलन में यह सुदृढ़ धारणा व्यक्त की गयी कि तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के होने तक हिन्दी विश्व स्तर पर राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में आदर्श प्रगति कर लेगी।

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन

ऊपर हमने नागपुर तथा मारीशस में सम्पन्न क्रमशः प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों की एक झलक देखी। कहना चाहिए कि ये दोनों सम्मेलन एक हद तक सफल रहे-हिन्दी को एक मंच मिला वह विश्व स्तर की भाषा बनी और संपर्क भाषा के रूप में उसे स्वीकार किया गया। अब तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन नहीं दिल्ली में 28-30 अक्टूबर तक होने जा रहा है जिसकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी करेंगी। पहले यह सम्मेलन नवम्बर में होना था किन्तु एशियाई खेलों के आयोजन के कारण और दूसरी तिथि जो मार्च महीने में निर्धारित हुई थी, वह गुट निरपेक्ष सम्मेलन के आयोजन के कारण स्थगित हो गयी। अब यह सम्मेलन अक्टूबर में नई दिल्ली में हो रहा है जिसका उद्घाटन प्रधान मंत्री श्रीमती गांधी कर रही हैं।

इस तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन से हमें किन संभावनाओं का पता चलता है? क्या यह सम्मेलन पिछले दो सम्मेलनों में व्यक्त किए गए विचारों, निर्णयों को पुष्ट वैचारिक आधार देगा

और उसका कार्यान्वयन भी हो पाएगा या सम्मेलन सिर्फ सम्मेलन के लिए होगा ? यह प्रश्न आम तौर पर प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के मानस में स्वाभाविक रूप से उठता है तथा यह भी कि सम्मेलन का स्वरूप क्या होगा, इसकी संभावनाएं कैसी हैं ? क्या हैं ?

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन नागपुर में जनवरी 1975 में और मारीशस में अगस्त 1976 में आयोजित प्रथम एवं द्वितीय हिन्दी सम्मेलनों की अगली कड़ी है। यह सम्मेलनों पिछले दोनों सम्मेलनों के द्वारा लिए गए निर्णयों को नए ढंग से उठाएगा। इस सम्मेलन के दौरान आधुनिक भाषा की यांत्रिक आवश्यकताओं पर विशेष बल दिया जाएगा। विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पठन-पाठन तथा हिन्दी की अद्यतन स्थिति पर विचार करते हुए भविष्य की रूपरेखा भी तय की जाएगी। इस सम्मेलन में हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए इस बात पर भी विचार होगा कि संविधान की धारा 351 के अनुसार विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच आदान-प्रदान द्वारा और उनके साथ चलकर हिन्दी को व्यापक स्वरूप प्रदान किया जाए।

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन की तैयारियां लगभग पूरी हो चुकी हैं और 28-30 अक्टूबर तक इंद्रप्रस्थ स्टेडियम में बड़े उल्लासमय वातावरण में यह सम्पन्न होगा। सम्मेलन के सफलता पूर्वक आयोजन के लिये लोकसभा के अध्यक्ष डा० बलराम जाखड़ की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय समिति का गठन किया जा चुका है। समिति द्वारा अनुमोदित निम्नलिखित कार्यक्रमों का इस अवसर पर आयोजन किया जाएगा—

1. विचार गोष्ठियां

1. अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी के प्रसार की संभावनाएं और प्रयास
2. भारत के सांस्कृतिक संबंध और हिन्दी
3. मानव मूल्यों की स्थापना में हिन्दी की भूमिका

प्रथम संगोष्ठी

आधुनिक भारत में हिन्दी के बढ़ते चरण
(समानान्तर गोष्ठी सत्र)

द्वितीय संगोष्ठी

अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ और हिन्दी
(समानान्तर गोष्ठी सत्र)

तृतीय संगोष्ठी

हिन्दी का अंतरभारतीय स्वरूप
(समानान्तर संगोष्ठी सत्र)

2. सांध्यकालीन सांस्कृतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत—(क) संगीत, नृत्य (ख) नाटक (ग) कवि सम्मेलन।
3. हिन्दी के बढ़ते चरण से संबंध प्रदर्शनी—(क) हिन्दी परिदृश्य और चित्राधार (ख.) प्रगति आरेख (ग.) तकनीकी उपकरण (घ.) पुस्तक प्रदर्शनी।
4. भारतीय एवं विदेशी साहित्यकारों का अभिनन्दन एवं सम्मान

5. विशेष डाक-टिकट का विमोचन
6. सम्मेलन संबंधी वृत्त चित्र का निर्माण
7. चित्रावली का प्रकाशन
8. स्मारिका का प्रकाशन और
9. विश्व हिन्दी धारा त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन।

उपर्युक्त कार्यों को सुचारु रूप से संपन्न कराने की दृष्टि से अलग-अलग समितियों का गठन किया जा चुका है। इस सम्मेलन का लक्ष्य प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों की उपलब्धियों को न केवल स्थायित्व प्रदान करना है अपितु उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को गति भी देना है जो हिन्दी के राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय रूप को पुष्ट भी करती है।

ए/2 ओल्ड गोविन्दपुरा कृष्ण नगर, दिल्ली—51

(आवरण पृष्ठ 2 का शेष)

एक ओर पुस्तकालय की स्थापना भी होनी चाहिए।

बच्चन जी ने अपने को सामान्य जनता का कवि मानते हुए कहा कि इस रचनावली का मूल्य 1000 रुपये रखा गया है यदि मुझे इस रचनावली को खरीदना पड़ता तो मैं नहीं खरीद पाता। उन्होंने कहा कि मुझे 350 रु० “पेंशन” मिलती है मैं 1000 रु० देकर पुस्तक कैसे खरीद सकता हूँ ? उन्होंने यह भी कहा कि यह समारोह सुरक्षा अधिकारियों से घिरे इस भवन में न होकर रामलीला मैदान में खुली जगह में होना चाहिए था।

श्रीमती गांधी ने रचनावली का विमोचन करते समय बच्चन परिवार से अपने प्रगाढ़ पारिवारिक सम्बन्धों की चर्चा की और कहा कि मुझे सन् 1942 का वह दिन याद है जब इस महान कवि को एक अन्य महान कवियित्री सरोजिनी नायडू घर लायी थीं। अपने सक्षिप्त भाषण में उन्होंने बताया कवि के बिना समाज जीवित नहीं रह सकता। बच्चन जी को उनकी कृति मधुशाला ने अद्वितीय लोकप्रियता प्रदान की। बच्चन-रचनावली की हम सब को बहुत समय से आवश्यकता थी जो आज पूरी हुई है।

इस अवसर पर हिन्दी के दो प्रख्यात साहित्यकारों डा० नामवर सिंह और रघुवीर सहाय ने बच्चन जी के व्यक्तित्व व कृतित्व एवं हिन्दी कविता में उनके महत्व पर प्रकाश डाला। यदि डा० नामवर ने उन्हें “आधुनिक हिन्दी कविता का सबसे लोकप्रिय कवि” बताते हुए उन्हें एक “विद्रोही” कवि की संज्ञा दी तो रघुवीर सहाय ने बच्चन के दर्द को छायावाद की वायवी पीड़ा से बिल्कुल अलग किस्म का दर्द बताया और कहा कि बच्चन ने हिन्दी कविता को जनता की भाषा भा दी और जनता से इसे ग्रहण भी किया।

अमित कुमार ने बताया कि नौ खण्डों की रचनावली में बच्चन के रचना-संसार को कालक्रम के अनुसार रखा गया है तथा उनकी कविता, अनुवाद आत्मकथा, पत्रों इत्यादि में तारतम्य स्थापित करने की कोशिश की गई है।

1167 गली घर्मशाला, कूचा पातो राम, दिल्ली-110006

विश्व भाषा के रूप में हिन्दी

प्रो० येगेनी चेलीशेव

सोवियत संघ में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत हमारे विद्यालयों में इस भाषा का अध्यापन तथा हिन्दी साहित्य के रूसी और सोवियत संघ की अन्य भाषाओं में अनुवाद से संबंधित विशाल कार्य सर्वविदित है।

हम हिन्दी भाषा का अध्ययन करते हुए, समसामयिक भारत में इसके कार्य की, अन्य भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी के साथ इसकी क्रिया की समस्या का अध्ययन करते हुए इन सब प्रश्नों की तुलना अपने देश में भाषाओं के विकास के प्रश्नों से करने की निश्चित चेष्टा करते हैं।

सोवियत संघ और भारत की भाषा स्थिति में समस्त अंतर के बावजूद कुछ समानता भी हैं, जो हमारे दोनों देशों के बहुभाषी स्वरूप द्वारा निर्धारित हैं। दोनों देशों में मिलती-जुलती भाषायी समस्याओं में से कुछ ये हैं :—

जातीय भाषाओं के विकास की समस्या, उनकी क्रिया तथा परस्पर समृद्धि की समस्या, संपर्क भाषा की, अंतरजातीय व्यवहार की भाषा की समस्या, द्विभाषीयता की समस्या आदि।

यह समानता इंगित करते हुए सोवियत विद्वान भारत की भाषा-स्थिति के विश्लेषण में हमारे देश सोवियत-रूस में भाषा-समस्या का जो हल ढूंढा गया है, उसका उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं। 1972 में मास्को में प्रकाशित डा० ब. इ. कल्यूयेव की “स्वतंत्र भारत की जातीय-भाषायी समस्याएं” नामक पुस्तक में भारत में भाषास्थिति के विश्लेषण का तथा राष्ट्र-भाषा होने के नाते हिन्दी का स्वरूप निर्धारित करने का सबसे सफल और सुयोग्य प्रयत्न किया गया है। 1981 में इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद हुआ। वैसे यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि यह पुस्तक तथा हमारे अन्य शोधकार्य इस समस्या को समर्पित अनेक भारतीय विद्वानों की रचनाओं की ही भांति, समस्या के कुछ पहलुओं पर प्रकाश अवश्य डालते हैं, लेकिन ये सब आधुनिक भारत में हिन्दी भाषा के स्थान और भूमिका को लेकर चल रहे वाद-विवाद को समाप्त नहीं कर सकते।

सामाजिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह एक सबसे जटिल समस्या है, “भाषा और समाज” के सह संबंध की एक सबसे कठिन कड़ी है।

प्रत्यक्षतः इस समस्या पर विद्वान सभी बहुत समय तक अनुसंधान करते रहेंगे, उनके बीच विवाद होते रहेंगे। हमारे विचार में इस समस्या के हल की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक खोज में निम्न दिशाएं सर्वाधिक फलप्रद हैं।

(क) हिन्दी को भारत के जनगण के लिए अंतरजातीय सम्पर्क की भाषा बनाने, देश की अहिंदी भाषी जनता के लिए इसे दूसरी मातृभाषा बनाने के रास्ते खोजने की समस्या नितांत महत्वपूर्ण है।

हमारे विचार में, इस प्रश्न के हल के लिए, भारत के राजकीय निकायों द्वारा उठाये जा रहे कदमों के साथ-साथ, हिन्दी भाषा के प्रचार में, देश के सभी राज्यों में स्वेच्छा से इसे दूसरी मातृभाषा के रूप में स्वीकार किये जाने की परिस्थितियां बनाने में, उच्च शिक्षा प्रणाली में, विज्ञान और तकनीक में तथा देश के सांस्कृतिक और सामाजिक-राजनीतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका उपयोग कराने में भारतीय जनमत के व्यापक हलकों की भूमिका बहुत बढ़नी चाहिए।

(ख) हिन्दी के प्रयोग को इतना व्यापक बनाने की समस्या कि एक देश की संपर्क की भाषा से बढ़कर यह अंतर्राष्ट्रीय, अखिल विश्व संपर्क के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने लगे। दूसरे शब्दों में इसे एक ‘विश्व-भाषा’ बनाने की समस्या, तभी हल हो सकती है जब यह अपने देश में उचित स्थान पा ले। हिन्दी को विश्व भाषा बनाने के इस जटिल और महत्वपूर्ण कार्य में सामाजिक राजनीतिक कारकों के साथ-साथ भाषा वैज्ञानिक कारकों को भी ध्यान में रखना चाहिये। पहले कारक इस बात से संबद्ध हैं कि जिन लोगों की यह भाषा है उनका भारत के इतिहास में, सारी मानवजाति के इतिहास में क्या स्थान है और समसामयिक विश्व में इन लोगों की, इस जनगण की क्या भूमिका है। हमें इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि समसामयिक विश्व में बढ़ती सकारात्मक भूमिका अदा कर रहे महान एशियाई देश की एक सर्वाधिक विकसित और सर्वाधिक प्रचलित भाषा हिंदी “विश्व-भाषा” बननी चाहिये, कि इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की अधिकृत भाषा के रूप में स्वीकृति मिलनी चाहिए। 1975 में नागपुर में हुए प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में हमने यही बात कही थी।

इन सामाजिक राजनीतिक कारकों के साथ-साथ भाषा-वैज्ञानिक कारक भी हैं, जो हिन्दी को “विश्व-भाषा” का स्थान पाने का अधिकारी बनाते हैं। इसका शब्द-भंडार और विशेष पारिभाषिक शब्दावली विकसित हैं, जिसमें भारत में तथा सारे संसार में विज्ञान और संस्कृति की उपलब्धियों को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। इस के मुहावरों का भंडार विपुल है, इस में लिखित साहित्य की परंपरा समृद्ध है जो 12वीं सदी में चंद

बरदाई से शुरू होती है, जिसे तुलसीदास और सूरदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला और पंत जैसी महान विभूतियों ने सदियों के दौरान संजोया-संवारा है। भारत के अनेक विलक्षण विद्वानों और महान नेताओं की भाषा हिन्दी थी और आज भी है। महात्मा गांधी और नेहरूजी ने हिन्दी या सरल हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा बनाने का सदा समर्थन किया।

हिन्दी भाषा ने अपनी विभिन्न बोलियों में विकसित होते हुए, अपने साहित्यिक रूप को समृद्ध बनाने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की है, इसने अपने सारे इतिहास के दौरान रूप प्रक्रिया और शब्द-भंडार में स्थायित्व बनाये रखा है। इस का शब्द-भंडार महान प्राचीन भारतीय संस्कृति की भाषा संस्कृत से सीधे-सीधे संबंधित है और इसने अन्य समृद्ध भाषाओं के शब्दों, मुहावरों और अभिव्यक्तियों को भी, जो बहुत लम्बी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्पराओं को प्रतिबिम्बित करते हैं, अपने में समो लिया है।

(ग) हमारे विचार में, हिन्दी को “विश्व-भाषा” बनाने के हित में हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में काम कर रहे विभिन्न देशों के विद्वानों, लेखकों, अध्यापकों, अनुवादकों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के प्रयासों को एकजुट करना उचित होगा। इस उद्देश्य से हिन्दी भाषा और साहित्य का अंतर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किया जाना चाहिये, जैसे कि रूसी भाषा और साहित्य के अध्यापकों का अंतर्राष्ट्रीय संघ तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्कृत संघ हैं।

भारत और विदेशों में हिन्दी के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से ऐसा करना बहुत उचित होगा कि प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों और विद्वानों के नाम पर ऐसे भारतीय और विदेशी विशेषज्ञों को पुरस्कार दिये जायें, जो हिन्दी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं। उदाहरणार्थ :—हिन्दी भाषा के अध्ययन के लिए श्यामसुन्दर दास, हिन्दी साहित्य के विवेचन के लिये रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी पत्रकारिता के लिये महावीर प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी गद्य के विकास के लिये प्रेमचन्द इत्यादि के नामों पर पुरस्कार दिये जा सकते हैं। इसी प्रकार भारत और विदेशों में हिन्दी के सुविख्यात लेखकों और कवियों जैसे प्रेमचन्द, निराला, पंत, मुक्तिबोध, यशपाल आदि के साहित्य का गहन अध्ययन करने वाले भारतीय और विदेशी अध्येताओं को प्रोत्साहित किया जा सकता है। हमारे देश में इसी प्रकार के पुरस्कार (पुष्कीन, चेरनीशेवस्की, दोबरोल्यबोव, हमजर इत्यादि) दिये जाते हैं।

हिन्दी

★ मोहनचन्द्र मन्टन

जन मन की अभिलाषा हिन्दी
अपनी है परिभाषा हिन्दी

विश्व प्रेम की भाषा हिन्दी
संकट आतंकों के युग में

है प्रकाश की भाषा हिन्दी।
जय हिन्दी जय-हिन्दी-हिन्दी।

—ए बी 904, सरोजिनी नगर
नई दिल्ली-23

हम सच्चे हृदय से यह कामना करते हैं कि भारत में हिन्दी तथा अन्य भाषाओं का विकास करने तथा दूसरे देशों में उनका प्रचार करने के लिए कार्यरत सभी लोगों के प्रयास सफल हों, कि भारत की एक सर्वाधिक विकसित, सर्वाधिक प्रचलित भाषा के नाते हिन्दी अपने देश के सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक जीवन में तथा अंतर्राष्ट्रीय मंच पर शीघ्रातिशीघ्र अपने लिए उचित स्थान पा ले।

स्वयं अपनी ओर से तथा सोवियत संघ में हिन्दी भाषा और साहित्य के सभी अध्येताओं की ओर से, सोवियत संघ में हिन्दी साहित्य के बहुसंख्य पाठकों की ओर से मैं उन सब लोगों के लिए नई-नई सफलताओं की कामना करता हूँ, जो भारत में हिन्दी भाषा का अध्ययन और प्रचार कर रहे हैं, हिन्दी में लिखने वाले सभी साहित्यकारों और भाषाविदों की सफलता और यह कामना भी करता हूँ कि शांति एवं प्रगति के उच्च आदर्शों के हित में हिन्दी भाषा की प्रगति हो, हिन्दी साहित्य फले-फूले।

— ए. चेर्लोशेव
सह-सदस्य, सोवियत विज्ञान अकादमी

भवानी प्रसाद मिश्र की तीन कविताएं

भूल के प्रकाश में

अगर उजाला

इतना तेज न होता
और सामने की सड़क से
निकल न रही होती
दोड़ती धड़धड़ाती वसें और
टूक और वाहनों पर वाहन
हंस नहीं रहे होते लोग
बगल की ऊंची छत पर
इतने जोर-जोर से
तो रोते हम जी खोलकर
मन इतना और ऐसा
भर गया है।

सोकर सिर्फ इसलिए
कि अभी-अभी एक फूल
बिना सख्त धूप या
बिना तेज हवा के भोंके के
मेरे सामने भर गया है
यों तो मन महाराजा
कितनी-कितनी बातों पर
किस-किस तरह से
भरते रहते हैं और
रोज-रोज भरते रहते हैं
कितने-कितने फूल
मेरे सामने मगर ऐसा
कभी नहीं करता जो
जैसा आज कर रहा है।
कारण तब इसका
फूल के भरने के सिवा है कोई
पूछता हूं जरा दुलारा कर कारण
अपनी पक्की उस भूल से
जिसे मैंने बचपन से
अपनी छाती में पाल रखा है
अपने अंधेरे मन को
ठीक-ठीक टटोलपाने के लिए
जिसे उडेलकर अपना सारा नेह
भीतर रातों दिन उजाल रखा है।



अलक्ष्य के खेल

कितनी सहज गंभीरता
वातावरण में
जैसे मृन्दु की हो
चुप्पी जैसे रात का
चौथा पहर
पंछी के जागने के पहले का
और बनी रही यह चुप्पी
घनी यह गंभीरता
मेरे घबराकर गा उठने तक
तब चहका एक पंछी
टूटी तट पर हल्की सी लहर
वातावरण ने मुझे
हंसकर घेर लिया
अच्छा नहीं लगा मुझे
तमाम चीजों से उसका यह खेल
बोला मैं कुछ नहीं
गाना बंद करके
उसकी तरफ से मुंह फेर लिया।

लम्बी एक भूल

मौलिकता कहां से मिलती है ?

मूल से।
मगर खबर किसे है
अपनी या किसी की भी
मूल की-यह कोई बताये ?
इसीलिए कहता हूं मैं
जो जितना भूलकर गाये
वह उतना अच्छा गायेगा।
और वह न सही सौ के बीच
कभी न कभी अकेले में
लजायेगा जो मूल को
तलाशने के फेर में पड़ा रहा
हाथ नहीं लगा उसके कुछ भी
इस फेर में मगर फिर भी
पेश किया उसने
अपने को इस तरह
कि जान लिया है हमने
मूल को हर चीज के
ख्याल मगर मेरा ऐसा है
कि अपनाया नहीं है जिसने
अपने जनम ले लेने की
पक्की भूल को मजे में
वह एक नहीं है सबसे
क्योंकि मूल तो सबका एक है
मगर खबर किसे है
इस सब के मूल की
कोई बताये
इसलिए कहता हूं
गाये हर गाने वाला
भूलकर कम से कम अपने को
पक्के इस सपने को
जो संसार है।

■ गांधी स्मारक निधि
महात्मा गांधी मार्ग, नई दिल्ली

कविताएं

★ ओर्दोलेन स्मेकल

आज हिन्दी के प्रचार और प्रसार में जो विदेशी विद्वान अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं उनमें भाषाविद् ओर्दोलेन स्मेकल का प्रमुख स्थान है। स्मेकल भारत में एक कवि के रूप में अधिक लोकप्रिय हैं। हिन्दी में अभी तक उनके दो कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पहला 'तेरे दान दिए गीत' और दूसरा है 'मेरी प्रीत तेरे गीत'। तीसरा कविता संग्रह भी शीघ्र प्रकाशित होने वाला है। पिछले दिनों जब स्मेकल भारत आए तो वह हमारे कार्यालय में भी पधारे। हमने उनसे "आजकल" के अक्टूबर अंक के लिए कविताओं की मांग की। श्री स्मेकल ने हमारा अनुरोध सहर्ष स्वीकार कर लिया। पाठकों के सामने प्रस्तुत हैं उनकी ये तीन कविताएं।

—सम्पादक

अपने रथ में बैठा मुझे

क्षणमात्र के लिए

बैठा मुझे अपने रथ में सूर्यदेव
ला हूँ अंजलि भर जोत
ला हूँ अंजलि भर नेह
जिनकी आत्मा अभी विषण्ण
जिनकी शिथिल देह
अंजलि भर जोत
जिनको लक्ष्मी की अभी तक
न मिली ओट
अंजलि भर रामरस
जिनके रूखे-सूखे जीवन पथ में
अभी तक न आई पावस
क्षण भर के लिए समीरण
उसके भोंके शीतल कदलीवन
क्षणमात्र के लिए नन्ही-सी नीड़
जिसमें भूखे शिशुओं के लिए
कभी न समाप्त होने वाली
खीर □

नमो नमो भारतमाता

शब्दों द्वारा नहीं

जी चाहता
करूँ कर्मों से गुणगान
तेरी छटा का
मन करता भी
विजय स्तंभ के सदृश
विश्व को दर्शाऊँ
तेरी पताका
तेरे सैकड़ों रूप यशस्वी
ओ मैया मेरी
नमो नमो
सहस्र बार नमो
भारत-माता
मैया माता ! □

कमल की लेकर चल

कमल को, बंधुवर

सतत सामने लेकर चल
कटु बोल
केवल बचाव में ही
बाहुबल
मात्र संकट में ही
प्रयोग कर
निराशा को
नित पीछे लेकर चल
जो आसभरी राहों पर चलता
चलता निरापद
अविरल
कमल को लेकर
सतत सीधा
अभय चल ! □

अंग्रेजी यहां दासी या अतिथि के रूप में ही रह सकती है, बहुरानी के रूप में नहीं।

—डॉ० कामिल बुल्के

तीन यायावरी कविताएं

श्याम सिंह शशि

‘तू मेरा रोमा रक्त’

“तू मेरा रक्त”
कितना मीठा लगा था
सुनकर रोमा-मुख से :
मेरे रोमा,
हैलिसिकी
जेनेवा और
फिर गोर्टिंगन में
पश्चिम के कितने

नगरों-महानगरों में
कहता फिरा—
मुझे अपना रक्त¹ तू
मेरे रक्त,
घर छोड़कर भी तू सुरक्त रहा
विरक्त रहा—
और कुरक्त तो नहीं बना :
मेरे वर्तमान-सा । □

1. रोमा जब किसी भारतीय से मिलते हैं तो ‘उसे भारतीय रक्त’ से संबोधित करते हैं ।

भारत के प्रथम नृ-वैज्ञानिक-कवि (मूलतः कवि) डॉ० श्याम सिंह शशि ने जिप्सियों के अध्ययन हेतु दो विश्व यात्राएं की हैं जिसमें एक ओर उन्होंने नृ-वैज्ञानिक शोध पर गवेषणात्मक साहित्य लिखा वहां दूसरी ओर लगभग 85 कविताएं भी लिखीं । प्रस्तुत हैं उनके प्रकाशनाधीन ‘यायावरी’ काव्य संग्रह की तीन कविताएं ।

राहुल के प्रति

राहुल¹
एक दर्शन दिया तुमने
“धूमकड़ बंजारा”
और
रमती गई मुझ में
चिरकुमारी
कोई यायावरी-कविता
यायावर युग की
मिल गया एक और
जीवन दर्शन/विश्व दर्शन

मुझे तुम्हारे देश में
शायद देखा होगा
तुमने भी परदेश में स्वदेश
मेरी यायावरी-सा
भिक्खु,
तुम बोल्गाको गंगा तक लाए
और मैं छिड़कता गया
यूरोप, अमरीका अन्यत्र
गंगाजल
अपनी जाह्नवी² का । □

1. वादों-प्रतिवादों के कटघरों से मुक्त स्वच्छन्द विचरती ये यायावरी कविताएं भारत के विख्यात यायावर राहुल सांस्कृत्यायन के नाम ।
2. कवि का जन्म स्थल हरिद्वार के पास का एक गांव ।



न्याया में अलखनन्दा

न्याया में अलखनन्दा को खोजा
पर बद्रीनाथ या हरिद्वार कहां से मिलते!
हडसन में त्रिवेणी की छाया भ्रमित थी
पर प्रयागराज नहीं थे
टेम्स में जाह्नवी को भांका
पर वाराणसी कहां मिलती ?
यूरोप की नदियों में कालिन्दी ढूंढना चाहा
पर मथुरा वृन्दावन नहीं मिले कहीं
रोम से लेकर वाशिंगटन तक की
दौड़ लगाई
पर मेरा भारत वहां नहीं था
यायावरी-आंखों में अश्रु थे बस
अपने देश के सूर्य को अर्घ्य
चढ़ाने के लिए
अपना देश अपना देश होता है
और यायावर का भी/अपना देश
होता है/रात्रि की सीमाओं में वह
विचरता है/हंसता है/रोता है/जीता है/और
धूमता रहता है परायी परिधि में
मेरे विदेशी मित्र,
मेरे मन को अब और मत बांधो !
मुझे तो अपनी परिधि ही प्यारी है □

डी-51, विवेक बिहार, दिल्ली-110 032

आजकल

□ ज्ञानप्रकाश विवेक

□ सत्यपाल सक्सेना

अशकों की सजी लंका तो आंखों में खड़ी है.
खुशियों की मगर पंचवटी सूनी पड़ी है.

लगता है तड़पती हुई इस धूप से जैसे,
सूरज के कलेजे में कोई कील गड़ी है.

हरान हूँ ये देख के पत्थर के शहर में,
इक काँच की दीवार है बेफिक्र खड़ी है.

जिस शय को तू छू ले वही हो जायेगी तेरी,
दौलत की तेरे हाथ में जादू की छड़ी है.

किस-किस के लिये ताजमहल अशक बहाये,
हर दर पे फटेहाल-सी मुमताज खड़ी है.

9/508, निकट सिविल अस्पताल
बहादुरगढ़-134507 (हरियाणा)

इक रात में ही बस ये सारा हादसा हुआ
जंगल सुलगने वाला था, ठण्डी हवा हुआ ।

सब उसकी बात निर्विरोध मान लेते हैं
मानों वो आदमी न हुआ फैसला हुआ ।

मन्जिल है बहुत दूर बहुत दूर ये न देख
ये देख कि तय तुझसे कितना फासला हुआ ।

सबसे गरीब शहर का रस्ता है वो जिस पर
चलती है भीड़, पुल भी नहीं है बना हुआ ।

इस जिन्दगी की ढलती हुई तेज धूप में
चल मैं न सही मेरा साया तो बड़ा हुआ ।

2 पो. डब्ल्यू. डी. रेस्ट हाऊस
सिविल लाइन, गुड़गांव

रंगे हाथों

□ अशोक गजराती

आये हुए लिफाफे पर
चिपके टिकट के
एकदम सिर पर लगा
बिलकुल जरा-सा अस्पष्ट
स्टैम्प का काला-सा घब्बा
देखकर
रास्ते पर पड़ी चवन्नी—
जैसे अपनी ही जेब से गिरी हो—
दशति हुए
चुपचाप उठा लेने की
सामान्य प्रवृत्ति की तरह
मेरे मन में जन्मी
टैक्स बचा लेने-सी
एक लालच भरी खुशी...

और मैंने
टिकट छुड़ाकर
वह कंगूरेदार कोना
सतर्क नाखूनों से कुरेद डाला.
मैं अपनी इस
किफायत की चतुराई पर
प्रसन्न भी नहीं हो पाया था
पूरी तरह कि
मेरी नजर को
टिकट के पृष्ठभाग पर
छपी तस्वीर ने चौंकाया—
गांधीजी मुस्करा रहे थे !

37, आदर्श कालोनी,
अकोला-444004 (महाराष्ट्र)

डा० रामविलास शर्मा से बातचीत

★ पुष्पा अवस्थी

मानसून पर्वतों से टकरा टकरा कर आकाश पर अपना साम्राज्य फैलाता जा रहा है। मौसम की प्रथम फुहार के आसार लम्बी प्रतीक्षा के बाद आज प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे थे। भीषण गर्मी, तपन और लू में बादलों को मात्र देख भर लेने से ही राहत महसूस हो रही थी। शाम के पांच बज रहे थे। बादलों को देखकर अपनी पिछली मुलाकात के सज्जन के कथन याद आ गये जिन्होंने मेरे सवाल पूछने से पूर्व कहा था—अवस्थी, अच्छे सवाल करना, जरा घेर कर क्योंकि बादलों के घेराव और टकराहट में बिजली चमकती है... गरजती है। मुझे लगा आज चलकर डा० रामविलास शर्माजी से बातचीत करनी चाहिए। मौसम भी खुशनुमा है। दिमाग में कई तरह के सवाल घनीभूत हो रहे थे। उठाई साइकिल और काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय परिसर में उनके पुत्र के निवास स्थान पर पहुंच गई इस बार शर्मा जी ग्रीष्मावकाश यहीं बिता रहे थे।

क्यारी में बेला खिली थी अपनी श्वेत आभा लिए। पवन के स्पर्श से बेले के पौधे किलकारियां भर रहे थे...फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध मुझे अच्छी लगी। ड्राइंगरूम खुला था। मैंने कालबेल दबाई और कुछ क्षण पश्चात् अन्दर हो ली। उनके नाती ने उन्हें मेरे आने की सूचना दी। कुछ ही मिनटों में डा० साहब कत्यई और सफेद चैंक की लुंगी और बनियाइन पहने आ गये। मुझे लगा जैसे अपने अध्ययन-कक्ष से पढ़कर आ रहे हों क्योंकि पढ़नेवाला चश्मा लगा था। संकोच व्यक्त करते हुए कहा—लगता है आपके अध्ययन में व्यवधान हुआ है। जवाब में मुस्कराते हुए उन्होंने कहा—मैं थोड़ा ऊंचा सुनता हूं इसलिए करीब आकर बैठो। मैं पास के सोफे पर बैठ गई और अपनी बात दोहराई। सुनते ही बड़े स्नेह से नकारते हुए डा० साहब ने कहा—नहीं...ऐसा नहीं है। सामान्यतः, मैं शाम के पांच बजे के बाद दो-तीन घंटे के लिए कुछ नहीं पढ़ता हूं पर आज पढ़ते-पढ़ते ऐसी शोधप्रद बात मिल गयी कि पढ़ने में लगा ही रहा। मुझे दिलचस्पी हुई और बात जानने की जिज्ञासा जाहिर की। डा० साहब ने संकेत करते हुए कहा कि टेम्सट की किताबों में भी मिलावट हुई है। ऋग्वेद के कुछ सूक्त अथर्ववेद में हेर फेर करके वही लिखे मिलते हैं। अब ऋग्वेद के बारे में तो नहीं पता चल सकता क्योंकि वह आदिग्रन्थ है। इस ओर भी सुधी समीक्षकों का ध्यान जाना चाहिए। अपनी बात को खतम करते ही आगे कहा आज तुम अपने कुछ सवालों का जवाब जानने मुझसे आयी हो न...। मैंने सहमति जाहिर की। शर्मा जी ने मुस्करा कर पूछने की इजाजत दी। उनकी सहृदयता और विनम्रता से प्रभावित और प्रसन्न होकर हमने पूछना शुरू किया।

प्रश्न : हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद और प्रगतिशील आलोचना के क्षेत्र में शिवदान सिंह चौहान के बाद आप सबसे महत्वपूर्ण समीक्षक हैं। समीक्षक, और प्रगतिशील समीक्षक के रूप में आप अत्यन्त विख्यात हैं। लेकिन आपकी सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक निराला पर है। क्या आपके मन में छायावाद के प्रति सम्मोहन है ?

उत्तर : छायावाद और प्रगतिवाद के बारे में कुछ लोग समझते हैं कि इन दोनों में आपस में बैर है। छायावाद में कई कमजोरियां थी और प्रगतिवाद में भी बहुत सी कमजोरियां



थीं। इन कमजोरियों को हटाकर हमें उनकी अच्छाइयों को अपनाना चाहिए। निराला निरन्तर अपनी विचारधारा और कला का विकास करते रहे थे। वह विकास सभी के लिए बहुत शिक्षाप्रद है चाहे वह प्रगतिवादी हो या भिन्न मत वाला।

प्रश्न : डा० साहब आप प्रथम प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़ी रचनाओं और रचना प्रवृत्ति पर लगातार निबन्ध लिखते रहते थे। हिन्दी का अधिकांश महत्वपूर्ण साहित्य विचारधारा-प्रयुक्त साहित्य के रूप में लिखा गया है लेकिन इस साहित्य पर अथवा प्रगतिशील कविता, कहानी उपन्यास या नाटकों पर आपका कोई महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित नहीं हुआ। क्या साठ के बाद की साहित्यिक प्रगतिशीलता से अपने को अलग या तटस्थ अनुभव करते हैं ?

उत्तर : नहीं...ऐसा नहीं है। सन् साठ के बाद मैं मुख्यतः भाषाविज्ञान के क्षेत्र में काम करता रहा। वह काम मेरे लिए

समकालीन साहित्य के मूल्यांकन से ज्यादा जरूरी था। उसके बाद मैं भारतीय इतिहास पर काम करने लगा हूँ और अब भी कर रहा हूँ। इसलिए मुझे साठ के बाद के साहित्य को पढ़ने का और उसके बारे में लिखने का अवसर नहीं मिला। पहले प्रगतिवादी आलोचक कम थे अब काफी हैं। और लोगों ने साहित्य पर जरूर लिखा होगा इसलिए मेरे न लिखने से ऐसी कोई हानि नहीं हुई होगी।

प्रश्न : डा० साहब वह तो ठीक है पर आपकी आलोचक दृष्टि से पाठक वंचित रहे जिसका उन्हें दुःख है। समकालीन साहित्य पर कुछ तो आपके लेख आने ही चाहिए।

उत्तर : ऐसा है पुष्पा—मैं अपने काम का निर्णय स्वयं करता हूँ। उस समय भाषा विज्ञान मेरे लिए महत्वपूर्ण था और यह सब काम बहुत समय लेते हैं। मैं जो काम करता हूँ सिर्फ वही करता हूँ।

प्रश्न : भाषा विज्ञान पर बहुत लिखा गया। अपने देश और दूसरे देशों के विद्वानों-भाषा वैज्ञानिकों सभी ने लिखा फिर आपने इसकी जरूरत क्यों महसूस की।

उत्तर : अच्छा सवाल है। इस देश के बारे में बहुत सी बातें हम केवल यहां की भाषाओं से जान सकते हैं। अभी तक जो भाषाओं का अध्ययन हुआ है वह हर भाषा परिवार से दूसरे को अलग रख कर किया है। संस्कृत या आधुनिक आर्य भाषाओं पर द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव को बहुत महत्व दिया जाता है। किसी ने भारत को एक ही भाषायिक क्षेत्र मानकर यहां के चार प्रमुख भाषा परिवारों के आंतरिक सम्बन्धों का अध्ययन नहीं किया। यह आंतरिक सम्बन्ध केवल भारत के ही नहीं, एशिया और यूरोप के प्रायः सभी भाषा परिवारों के विकास को समझने के लिए जरूरी हैं। जहां तक भारत का सम्बन्ध है इन परिवारों के आंतरिक सम्बन्धों में यहां की जनता के सामाजिक विकास का इतिहास छिपा हुआ है। भारत एक राष्ट्र है और यूरोप एक राष्ट्र नहीं है। इस भेद का कारण मुख्यतः भारतीय भाषा परिवारों के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से जाना जाता है। इस अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलते हैं वे न केवल पुराने इतिहास के विवेचन के वरन् वर्तमान राजनैतिक आंदोलन को सही दिशा में ले जाने के लिए भी उपयोगी हैं।

प्रश्न : डा० साहब आपने अभी पहले बताया कि भारतीय इतिहास पर आजकल आप काम कर रहे हैं। इस पर भी बहुत लिखा गया है फिर यह समाजशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों, अर्थ-शास्त्रियों के विश्लेषण लेखन का क्षेत्र है। आपने इसको अपने अध्ययन का विषय क्यों बनाया? क्या अब तक जो भारतीय इतिहास पर लिखा मिला वह कहीं से क्या कुछ अधूरा है?

उत्तर : भारतीय इतिहास अधूरा नहीं है, हमारा ज्ञान अधूरा है। भारत में अंग्रेजी राज्य और मार्क्सवाद पर बहुत लोगों ने लिखा है लेकिन किसी ने यह नहीं

बताया कि अंग्रेज और यूरोप की दूसरी जातियां सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक अमेरिका और अफ्रीका में क्या कर रही थीं। तो पूरी दुनिया में जो साम्राज्यवादी अभियान चला उस पर ध्यान दिये बिना भारत में अंग्रेजी राज्य का विवेचन पूरा नहीं होगा।

अब जो मैं काम कर रहा हूँ उसके बारे में बताता हूँ। भारतीय इतिहास को समझने के लिए यहां के अर्थ-तंत्र, यहां की राजनीति, यहां की संस्कृति, यहां के दर्शन, यहां के साहित्य, इन सबका एक साथ अध्ययन जरूरी है। यह सब बहुत बड़ा इतिहास है और विस्तृत काम है। मैं केवल कुछ समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए यह पुस्तक लिख रहा हूँ जिससे हिन्दी साहित्य से आधुनिक भाषाओं में रचे हुए साहित्य के विवेचन में सुविधा हो।

प्रश्न : आपने भाषा और स्वतन्त्रता आंदोलन के इतिहास के विषय में काफी गम्भीरता से महत्वपूर्ण और विशाल ग्रन्थ लिखे हैं और निश्चित रूप से भाषा और जातीय इतिहास के सम्बन्ध में लिखते हुए मार्क्सवादी दर्शन का बड़ी अकादमिक क्षमता के साथ उपयोग किया है लेकिन इन ग्रन्थों की समीक्षाएँ अधिकांशतः प्रगति विरोधी या प्रगतिवाद की शत्रु समझी जाने वाली पत्र पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुई। स्पष्टतः मेरा संकेत धर्मयुग जैसे प्रगति विरोधी पत्र की ओर है क्या प्रगति विरोधी शिविर आपको प्रगतिशीलता के क्षेत्र में तटस्थ, निष्क्रिय या अपेक्षाकृत कम आक्रामक सफलता है।

उत्तर : कौन क्या समझता है इस पर मैंने ध्यान देना बहुत दिन से बंद कर दिया है। मैं इस विश्वास से लिखता हूँ कि देशवासियों को मेरी पुस्तकों में कुछ काम की बात मिलेगी तो उसका उपयोग करेंगे। जो गलत बातें होंगी उन्हें छोड़ देंगे। जो बातें सही हों उन्हें सोचे समझें। यदि पुस्तकें बिलकुल व्यर्थ हैं तो इससे किसी का कुछ न बिगड़ेगा और मेरा भी कुछ न बिगड़ेगा क्योंकि इन्हें लिखते समय मुझे यथेष्ट आनन्द प्राप्त हो चुका है।

प्रश्न : आपके समकालीनों में शिवदास सिंह चौहान ने लिखना बिलकुल बन्द कर रखा है। आपके उनसे सम्पर्क-सम्बन्ध होंगे ही। समीक्षा के क्षेत्र में उनकी यह अनुपस्थिति आपको कैसी लगती है? आपके बाद के समीक्षकों में डा० नामवर सिंह का बड़ा नाम है। मध्य प्रदेश की एक पत्रिका ने उनके ऊपर एक विशेषांक भी छपा था और उस विशेषांक ने बड़ी सफाई के साथ नामवर जी को शुक्ल जी का उत्तराधिकारी या उनके बाद का सबसे महत्वपूर्ण समीक्षक कहा। लेकिन स्वयं नामवर सिंह आपके प्रति बड़े श्रद्धालु हैं और मानते हैं कि शुक्ल जी के बाद आपका व्यक्तित्व ही अन्यतम है। बड़ी व्यक्तिगत बातें हैं लेकिन हम इस पर आपसे कुछ सुनना चाहेंगे।

(शेष पृष्ठ 49 पर)

एक प्रश्न मृत्यु

डा० विनय

महाभारत की कथा को समकालीनता के परिदृश्य में देखने का प्रयास कई काव्यों में हुआ है। लेकिन इस पर नाटकों की रचना कम ही हुई है। डा० विनय का काव्य नाटक “एक प्रश्न मृत्यु” इस क्षेत्र की कमी को पूरा ही नहीं करता अपितु नये सृजनात्मक प्रश्न भी उभारता है। पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है इस काव्य नाटक से कर्ण-कुन्ती संवाद का एक मार्मिक अंश।

महाभारत में कुन्ती युद्ध से पूर्व कर्ण

से मिलने जाती है। उसकी यह भेंट मानवीय स्तर पर है या केवल राजनीतिक जोड़-तोड़ का एक भाग। क्या वास्तव में कर्ण के प्रति कुन्ती की ममता जागी थी। या अर्जुन की रक्षा के भाव से कुन्ती का हृदय आन्दोलित हो उठा था।

कर्ण की मृत्यु न केवल कुन्ती के लिए एक प्रश्न है, बल्कि द्रोपदी, राधा तथा अन्य पात्र भी अपनी-अपनी चिन्तन परिधि और सम्बद्धता में इस प्रश्न पर विचार करते हैं।

स्थान : नदी के किनारे कर्ण का प्रार्थना स्थल। कर्ण आकाश की ओर देखता है और कुन्ती पास आ जाती है। एक क्षण बाद कर्ण की नजर कुन्ती पर पड़ती है।

कर्ण : राधा का पुत्र अर्जुन की माता को प्रणाम करता है राजमाता !
(कुन्ती कर्ण की ओर देखती है)
जिन्हें देखने के लिए सूर्य की किरणों को छिपकर के जाना पड़ता है कक्ष में—
पांच पाण्डवों की माता वह इस खुले मार्ग से तपते मध्याह्न में—।

निश्चय ही कोई गम्भीर आदेश है और गोपनीय भी —
अन्यथा शत्रु की मां शत्रु के द्वार पर इस तरह नहीं आती।

कुन्ती : (आवेग के साथ)
शत्रु की माता नहीं —
तुम्हारी भी माता हूं मैं
पाण्डव नहीं हैं तुम्हारे शत्रु छोटे

भाई हैं।
जन्म से अलग हो अपने ही भाइयों से इसलिये मुझे अर्जुन की मां कहते हो।
तुम भी मेरे पुत्र हो।
आओ अब अपने वंश में लौट आओ एक विराट राज्य तुम्हारी प्रतीक्षा में—
तुम्हारी मां कहती है
अपने सुवन लौट चलो। वत्स—
अब।
मैंने ही तुम्हें अपने गर्भ से जन्म दिया था

कर्ण : (पीड़ा युक्त व्यंग्य)
'तुम्हारी मां' जिसने पाला नहीं
एक भी क्षण जन्मते ही गंगा में

बहा दिया निर्मम हो।
मातृत्व का ऐसा अनुपम उदाहरण ममता का इतना निर्दोष स्वरूप—
(व्यंग्य से हंसता है)
राजमाता राधा का पुत्र हूं मैं !
सारा जग जानता है। आप नहीं जानती ?

कुन्ती : मुझको प्रताड़ित करना है खूब करो किन्तु इस सत्य को मान जाओ वत्स तुम मेरे पुत्र हो।
पुत्र मेरे तुम !
सूर्य को साक्षी मानकर कहती हूं ! तुम मेरे पुत्र हो।

कर्ण : (कटुता भरे स्वर में)
कौन पुत्र किसका पुत्र कौन माता, किसकी मां! जानती हो मेरी मां आरती का थाल लेकर घर पर

प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी होगी जानती हैं उसका कर्ण, वीर है, अग्रेय है फिर भी दुश्चिता में आँखों को भिगोकर के हरबार पूछती है “बेटा कुशल तो है” मैं नहीं जानता राधा के अतिरिक्त और किसी माता को—किन्तु राजमाता को जानता, पहचानता हूँ—आप आदेश दें कौन सा कार्य करूँ ? आपके आने का कारण तो होगा ही ।

कुंती : माता नहीं मानते हो मानते हो राज माता—किन्तु मैं केवल माता बनकर आई हूँ राजमाता बन कर बहुत कुछ खोया है माता के रूप में खोये को पाने की आसक्ति जागी है । जो कुछ भी कहना है मां ने ही कहना है । महारथी महादानी वीरवर कर्ण से माता मांगती है तुम पहले मुझे मां कहो अन्यथा राजमाता असफलता का बोध लिए यूँ ही लौट जायेगी । दोष नहीं देगी तुम्हें ।

कर्ण : अब भी क्या ऐसा कुछ बचा है जीवन में जिसका मैं दोषी हूँ ! जन्मदोष, कर्म दोष, मेरी वीरता में दोष । चारों ओर दोषों के भार को उठाए हुए मेरे में कर्मठ संतप्त पुरुष व्याकुल है अपने अस्तित्व के अर्थ में निरन्तर दोष खोजता है जो । पूछता रहा है—जग के नियन्ताओं से—मेरा चुनाव तो नहीं था तुम्हारी कोख । तुम्हारा घर गंगा की लहरों से राधा के हाथों में मैं नहीं पहुँचा था अपने निर्णय से फिर क्यों परशुराम शिक्षा नहीं दे पाए ? द्रोण ने हमेशा ही डाली उपेक्षित दृष्टि । और कृपाचार्य भरी हुई सभा में केवल मुझ से ही पूछते हैं मेरा वंश । इन्द्र ले जाते हैं मांग कर कवच-कुण्डल भीष्म कह देते हैं हंस

करके अर्थ रक्षी—और मेरी शक्ति मेरा वीरत्व, मेरी तेजस्विता । पंगु होती रही एक नारी के मौन में ! क्षत्रियवंश में जन्म लेने पर भी सारे संस्कारों से वंचित मुझे रहना पड़ा यश मिटता रहा, नष्ट होती रही कीर्ति ।

(विराम)

राजमाता कहती है आपको माता कहूँ । माता होती यदि मेरी कोई घरती पर सारे अपमानों के बीच से ले जाती—अपनी आंचल की छाया में करती उद्धोषणा—‘कर्ण पुत्र मेरा है ।’ और मैं सारे ऐश्वर्य को लात मार किसी भी बन में एकान्त स्थान पर रह लेता मां के साथ—इस तरह घूप में—भरी सभाओं में लांछित न होता । नहीं ! राजमाता ! मैं जातिहीन ठीक हूँ ! रंगभूमि का उच्च वंश हीन कर्ण किसी भी वंश को अस्वीकार करता है !

कुंती : पुत्र यह तुम्हारा रोष बिलकुल स्वाभाविक है । किन्तु विश्वास करो—मैंने देखा था तुम्हें शक्ति से दीप्त गर्व से ओत-प्रोत, वहां रंगभूमि में अपने ही भाई से लड़ने को उत्सुक ! यह भी देखा था मैंने—सबके सब तुम्हारे शौर्य से आतंकित तुम्हारे विरोध में व्यक्त कर रहे थे अपने अपने मत । और जब तुम से पूछा गया वंश

—गोत्र

और तुम्हें सूतपुत्र कह कर पुकारा गया चाहा था मर्यादा का आरोपित जाल तोड़ चिल्लाकर सारे गुरुओं से कह दूँ कर्ण नहीं सूत पुत्र, कर्ण नहीं राघेय कर्ण कौन्तेय है — !

कर्ण : असत्य बोलती हैं आप आपके मन ने कभी नहीं चाहा यह आप चाहती तो यह कह सकती थीं—किन्तु तब राजमाता कुंती के मान की रक्षा नहीं हो पाती ! कलंक लग जाता—एक निर्विकार मस्तक पर—

कुंती : नहीं पुत्र ऐसा नहीं । भीम ने तुम्हें जब प्रताड़ित किया था और दुर्योधन ने राज्य दिया अंग का वत्स में पहली बार हारी थी उस समय—अपने ही मौन से । और एक भयंकर अपराध बोध तब से अब तक मेरी चेतना को आकान्त किए है—। कितनी ही बार मैंने संकल्प किया सब कुछ कह दूँगी किन्तु हर बार यह सोच कर चुप रही गोपन को अगोपन करने के बाद भी यदि तुमने उसको नहीं स्वीकार किया तब क्या होगा ?

कर्ण : अब क्या होगा । जब मैं अपना सम्पूर्ण दे चुका सुयोधन को ।

लौटा नहीं सकता हूँ ।
 सुयोधन ने मेरे मान की रक्षा
 की
 बना करके अगराज
 और जब मैं आधारहीन था
 मेरी बाहुओं का बल
 मेरी शक्ति तेज
 चारों ओर से अपमानित होकर
 के
 गहन अन्धकार में गिरता जा रहा
 था

तब तुम कहाँ थी ?
 तब—सुयोधन ने
 प्रकाश की किरणों से—
 मुझको विभूषित किया ।
 मान दिया, धर्म दिया राज दिया
 और इन सबसे ऊपर दी अटूट
 मैत्री
 भटकते नक्षत्र को एक आकाश
 मिला

(विराम)

राज माता लोक की दृष्टि में
 जो अधर्म है—
 उसी अधर्म ने मुझको धर्म
 दिया—
 क्षात्र धर्म, वीर धर्म—
 और आप चाहती हैं—मैं कृतघ्न
 बनूँ
 छोड़ कर सुयोधन को—
 पाण्डवों में जा मिलूँ—
 आपको मां कहूँ ।
 असम्भव है राज माता ।
 आप आदेश दें—!
 कौन सी आज्ञा का पालन—
 करना है, इस अकिंचन को—
 आज्ञा के पालन में आपको मां
 कहना अनिवार्य तो नहीं है ?

कुंती : पहले मुझे मां कहो !
 अन्यथा मेरी कोई भी आज्ञा
 नहीं ।

कर्ण : (आकाश की ओर देख कर)
 ओह ! क्या चाहते हो देव तुम

मुझ से
 नियति तेरी अपेक्षा क्या है ?
 (कुंती की ओर देख कर)
 राजमाता—(घुटनों के बल
 बैठता है)
 मेरे स्वीकार अस्वीकार से
 कुछ नहीं होगा अब ! ...
 किन्तु जो संचित है मन के किसी
 कोने में
 उसका स्वीकार कब तक रोकूंगा
 मां ! माताश्री !
 (कुंती सचेत होती है)

कुंती : वत्स ! मेरे पुत्र

कर्ण : मां ! मेरी मां—
 मां तुम्हारा यह उपेक्षित पुत्र
 तुम्हारे चरणों की बन्दना करता
 है
 (चरणों में झुकता है और कुंती
 उसे वक्ष से लगा लेती है, एक-
 क्षण बाद अलग होकर)

कुंती : मुझे मेरा छूटा हुआ पुत्र मिल
 गया है ।
 तुम्हें तुम्हारा अपना साम्राज्य
 क्यों न मिले ?
 चलो पुत्र, अब तुम मेरे साथ
 चलो
 वंश, राज्य वैभव, तुम्हारी
 प्रतीक्षा में—
 तुम यदि चाहो तो संकट टल
 जायेगा
 युद्ध की भयंकरता यहीं समाप्त
 हो जायेगी
 तुम स्वीकारो तो—
 मैं सबसे कहूँगी,
 यह देखो मेरा पुत्र कर्ण चला
 आया है ।
 इसकी आरती उतारो
 इसका अभिषेक करो—

कर्ण : किन्तु यह असम्भव है ।
 आपकी बात मान यदि मैं वंश में
 पल भर भी लौटने पर किंचित
 विचार करूँ

लोग हँसेंगे, कायर कहेंगे मुझे ।
 (विराम)
 और वे, कहेंगे कर्ण मृत्यु के भय
 से
 यह नया संबंध जोड़
 पलायन कर गया ।
 अब तक के जीवन में
 सारे अपमानों के बीच
 जो कुछ भी थोड़ा-सा गौरव
 उपलब्ध किया ।
 नष्ट हो जायेगा
 मेरा ही नहीं, माताश्री पाण्डवों
 का भी ।

कुंती : तुमने मुझे मां कहा
 मां स्वीकारा है मुझे
 फिर भी यह द्वन्द्व है ?
 युद्ध सिर पर है वत्स—
 विनाश के नगाड़े बज रहे हैं
 चारों ओर
 शंखों का गर्जन—
 कोई भी नहीं रोक पाया इस
 युद्ध को
 फिर भी मुझे आशा है ।
 युद्ध रुक सकता है
 तुम यदि चाहो तो । (विराम)
 देखती हूँ युद्ध यह किसी के मध्य
 नहीं
 मेरे ही पुत्रों के बीच—होगा कल
 से ।
 जो भी पक्ष जीतेगा, हारेगा युद्ध
 में
 केवल मैं जीतूंगी,
 केवल मैं हारूँगी—
 अपने ही रक्त का अंश खोकर के
 क्या मैं जीत पाऊँगी !

(विराम)

हताहत हो तुम—
 यह फिर हो अर्जुन—
 या कोई भी पाण्डव
 मेरा ही मन कटेगा युद्ध भूमि
 में—
 इसलिए कहती हूँ—लौट चलो
 वंश में—युद्ध रुक जायेगा
 विनाश टल जायेगा ।

और भी एक बात तुमसे मैं
कहती हूँ
धर्म की विजय होगी।
और तुम जानने हो—
कृष्ण के सामने निज स्वप्न की
दृष्टि से
मान चुके हो तुम
पाण्डवों की जय होगी
और हठी कौरव !
विनाश के गर्त में डूब जायेंगे।

कर्ण : जानता हूँ माता श्री
धर्म की विजय होगी
लोग कहते हैं, धर्म की विजय
होगी
धर्म किस ओर है
क्या वे जानते हैं यह ?
युद्ध के आरम्भ के बाद माताश्री
धर्म के कितने ही रूप बदल
जायेंगे
कोई नहीं जानेगा !
और माताश्री ! मैं तो यह
जानता हूँ
अनेक ग्रह-उपग्रह मेरे विरुद्ध हैं
युद्ध में अपने उत्सर्ग के प्रति
मेरी अटूट आस्था है।
किन्तु तुम्हारी ममता पाकर के
और दृढ़ हो गयी !
मेरा उत्सर्ग, मेरे प्राणों की
आहुति
मेरी माता का पद सुरक्षित
करेगी !

कुंती : मेरी सुरक्षा चाहते हो यदि
वत्स
लौट चलो वंश में !

कर्ण : माता यह असम्भव है।
क्योंकि मैं मैं नहीं
अपनी समष्टि की छोटी सी
इकाई हूँ।
मैं नहीं हूँ निर्णायक इस युद्ध में
(विराम)

मेरी नैतिकता बार बार कहती
है—

मैं केवल समाज के नियमों का
पालक हूँ
मेरा अस्तित्व, खण्डमात्र है
जीवन में—
और मैं अपूर्ण—
मेरा अस्तित्व नगण्य है।
मैं इस युद्ध में संलग्न समाज की
छोटी सी इकाई हूँ।
मैं यदि घोषणा कर दूँ संधि की
फिर भी क्या असंख्य सैनिक
युद्ध से विरत होंगे।
माता इतने विराट समूह के
सामने
व्यक्ति की सत्ता क्या ?

कुंती : जानती हूँ मनुष्य इकाई है
समाज में
उसको सामाजिक नैतिकता
बांधती है—
किन्तु उसका भी अस्तित्व
नगण्य नहीं
उसको अपने होने की पूर्णता
उतनी ही वांछित है—
जितनी समाज को।
वह भी पाना चाहता है अपना
सत्य !
मैंने एक सत्य को छिपा कर के
जितनी भी मानसिक पीड़ा भोगी
है—
उतनी ही निजता के समीप
आ—
स्वीकृति के अभाव में
लौट लौट जाती रही।
किन्तु अभिव्यक्ति के इस स्तर
पर आकर जैसे पूर्ण सत्य के
समीप आ गई हूँ।

कर्ण : कैसा पूर्ण सत्य मां ?
हम सब खण्डित व्यक्तित्व के
वाहक हैं
किसी की पूर्णता खण्डित है दम्भ
से
और कोई आघा है, राज्य की
लिप्सा में—
कोई मन से छोटा है—

कोई निज कर्म से—

चाहते हैं सब निजता की पूर्णता
किन्तु उनकी अपनी मर्यादा की
सीमा है—

पूर्ण सत्य सीमा में कभी नहीं
होता है।

और जो सीमा को तोड़ कर
बहता है

अनन्तः विनाश का मार्ग अपनाता
है—।—

जैसे यह द्वार पर आया हुआ
युद्ध

सीमाएं टूटने का ही परिणाम
है।

जानता हूँ सीमाएं सबने तोड़ी हैं
सुयोधन ने शक्ति की।

धर्मराज ने सहन की।

कोई न कोई सीमा हम सब से
टूटी हैं।

और तुम जानती हो।

एक बार टूट कर घरा पर
बिखर कर

कुछ भी पूर्वरूप नहीं पा सकता।
मैं नहीं बन सकता तुम्हारा

घोषित पाण्डु पुत्र
तुम नहीं बन सकती मेरी घोषित

पृथा मां
किन्तु ये दोनों ही बात सत्य

है—

पूर्ण सत्य नहीं मां

आंशिक सत्य केवल हैं।

कुंती : तो क्या मनुष्य छोड़ दे
अपने प्रयासों को
सत्य के, सुख के मंगल विधान के

कर्ण : नहीं, मां, नहीं मां
ऐसा नहीं हो सकता—
मृत्यु को समर्पित है फिर भी हम
जीते हैं—
मनुष्य के प्रयास में ही
रक्षित है सम्यता, उपकरण
संस्कृति के
मनुष्य के हाथों से इनका विनाश
भी होता है।

कुंती : इसीलिए आई हूँ तपते मध्याह्न में
रुक सके विनाश यह मेरी स्वीकृति से—
मेरी यातना के विस्तृत हो जाने से
(नैपथ्य में दूर से शंख गर्जन सुनाई देता है)
ओह यह शंख ध्वनि कितनी भयानक है ?

कर्ण : किन्तु वह वीर जो होठों से छू कर के
शंख में प्राणों की ध्वनि फूंक रहा है मां
वह इस भयानक सौंदर्य से—
पुलकित है,—गर्वित है दर्प से—
और वह जानता है—
प्रारम्भ युद्ध का—
उसके अन्त का निमन्त्रण ही होगा
फिर भी—वह शंख ध्वनि करता है बार बार—
जानता है वह—युद्ध के बाद सब कुछ बदल जायेगा ।

कुंती : इसलिए कहती हूँ, लौट चलो वंश में
चाहो तो मेरा सत्य विश्व सत्य हो सकता है
अब भी समय है—युद्ध रुक सकता है
विनाश टल सकता है ।
हो सकती है तुम्हारे प्राणों की रक्षा
पाण्डव भी सुरक्षित होंगे इस सत्य से
युद्ध नहीं—शान्ति का प्रयास ही करता है रक्षा मानव-अस्तित्व की ।

कर्ण : मेरी रक्षा और असुरक्षा क्या ?
मानव-अस्तित्व सदा संकट में फलता है
संकट के बीच ही बनता है राजपथ

जीवन के सत्यों का ।
इसीलिये एक प्रण करता हूँ
माता श्री
आपका आना विफल नहीं जायेगा
अर्जुन को छोड़ कर
किसी और पाण्डव का अवसर मिलने पर भी
वध नहीं करूंगा मैं ।
निर्णायक युद्ध होगा कर्ण और अर्जुन में
कर्ण जीतेगा तो जीतेंगे कौरव
कर्ण हारेगा तो कौरव हारेंगे ।
किन्तु माताश्री आप निश्चित रहें
कर्ण नहीं जीतेगा ।
सारे ग्रह उपग्रहों के विरुद्ध होने पर
कर्ण जीत पायेगा ?
नहीं माताश्री । (विराम)
और, यदि भाग्य ने चमत्कार कर दिया
विपरीत हो गये नक्षत्र अर्जुन के कृष्ण की माया यदि असफल हो गई

राज्य तो समर्पित होगा सुयोधन के चरणों में
किन्तु यह जीवन में सर्वथा उपेक्षित पुत्र
वंश में लौटकर आयेगा छोड़कर सुयोधन का सारा वैभव मैत्री, अनुकम्पा ।
सूर्य को साक्षी मान कहता हूँ माता मैं
आप चिरकाल तक पांच पाण्डवों की मां
आप युग युगों तक पांच पाण्डवों की मां ।

कुंती : मैं तो आई थी विनाश रोकने के लिए तुम्हारे प्राणों पर अगाध ममता लिए
तुमने यह प्रण सुना हतप्रभ किया है मुझे
थोड़ा सा दे दिया बहुत कुछ ले

लिया ।

कर्ण : नहीं मां, नहीं मां
कुछ नहीं लिया है मैंने
युद्ध के बाद विजय के स्वरो में राज माता की आरती उतरेगी भुवन में
राजमाता प्रचारित करेंगी आदेश पत्र,
राजमाता पहतायेगी मुकुट युद्धिष्ठिर को—
राजमाता हर्ष से पुलकित होकर के अपने इस पुत्र को विस्मृत कर देंगी
विजय श्री वरण किये गर्वोन्नत माल लिये
उनके पांचों पुत्र चरणों में झुकेंगे ।
युद्ध के बाद विजय के क्षणों में एक एक क्षण पर्व बन जायेगा ।
कर्ण तुम्हें तब भी याद रहेगा मां ?
नहीं मां ! नहीं मां !
कर्ण तुम्हें तब याद नहीं आयेगा !

कुंती : तुम्हारा यह आरोप सत्य हो सकता है
किन्तु इसे सत्य नहीं होने दूंगी—
तुम्हारे ही सामने सूर्य को साक्षी मानकर
प्रण करती हूँ !
तुम्हारे बिना यदि आयेगा कोई भी विजय पर्व
उसके उल्लास में कुन्ती का कोई भी भाग नहीं होगा पुत्र ।
हंसी नहीं होगी
गर्व नहीं होगा—
विजय दंडुभिनों के बीच अर्तनाद जितने भी होंगे विधवाओं के—
और माताओं के उनमें छोटी सी सिसकी भी गूँजेगी भुवन में
कोई तो सुनेगा नहीं ।

नागरिक पूर्ति विषयों की मौलिक हिन्दी पुस्तकों पर पुरस्कार

नागरिक पूर्ति विभाग से संबंधित विषयों अर्थात् उपभोक्ता संरक्षण, उपभोक्ता सहकारी समितियां, सार्वजनिक वितरण, विधिक माप विज्ञान की श्रेष्ठ मौलिक हिन्दी पुस्तकों के लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए, नागरिक पूर्ति विभाग, खाद्य और नागरिक पूर्ति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा पुरस्कार प्रदान किए जाएंगे।



पुरस्कारों से संबंधित सभी मामलों पर मंत्रालय का निर्णय अन्तिम होगा और इस विषय पर कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा।

पात्रता

यह पुरस्कार 1982-83 और 1983-84 के दो वर्षों की अवधि के दौरान लिखी हिन्दी की मौलिक पुस्तकों के लिए है। चूंकि यह पुरस्कार पहली बार दिए जा रहे हैं इसलिए इस बार 31 मार्च, 1983 तक लिखे गए सभी प्रकाशित ग्रन्थों या पाण्डुलिपियों को विचारार्थ स्वीकार किया जाएगा।

भेजने का पता और अन्तिम तिथि

पुस्तकों या साफ-साफ टाइट की गई पाण्डुलिपियों की पांच-पांच प्रतियां निर्धारित प्रपत्र के साथ, सचिव, नागरिक पूर्ति विभाग, कृषि भवन, नई दिल्ली-110001 को सीलबन्द लिफाफे में भेजनी चाहिए। प्रविष्टियां 31 अक्टूबर, 1983 तक उपर्युक्त पते पर पहुंच जानी चाहिए। निर्धारित प्रपत्र और अन्य शर्तें भी उपर्युक्त पते से प्राप्त की जा सकती हैं।

डी.ए.पी.सी. 83/196

किन्तु मेरी निष्ठा—

मेरा अपराध बोध हल्का कर देगी तब।

राजमाता एक भी दिन विजय उल्लास में नहीं होगी सम्मिलित—

तुम्हारी स्मृतियों से चयन करके निरन्तर अपने ही समक्ष अपने गहन भाव से करनी रहेगी निज आत्मका

कर्ण : यह क्या किया तुमने मां
मैंने तो क्रोध में बहुत कुछ कह दिया
सम्भवतः पहली बार !
मेरे क्रोध को अस्वीकार कर देती
मेरे व्यंग्य वचनों के उत्तर में फिर से मुझे अपनी अपेक्षा की नदी में बहा देती—
किन्तु मां तुमने यह क्या किया—
विजय पर्व के उल्लास से स्वयं को वंचित किया। (विराम)
मेरी मां विजयिनी होकर भी मात्र सेविका रहेगी—क्या—
नहीं मां ऐसा नहीं—
प्रण लौटा लो मां—

कुंती : ऐसा कभी हुआ है—
प्रण लौटा है कभी ?
तुमने क्या लौटाया है कभी अपना प्रण
जानते थे भिक्षुक वह ब्राह्मण नहीं था
फिर भी काट डाला कवच अपने शरीर से
मैं भी तुम्हारी मां हूँ
कैसे लौटाऊँ—प्रण—
(रुककर)
लौट सकता है—यदि—
युद्ध रुक जाए कल—

कर्ण : नहीं मां, नहीं मां—

मेरे कंधों पर यह भार मत
ढालो
मैं विवश हूँ—

कुंती : तो फिर मैं कहती हूँ
रण भूमि में नहीं
मानव के स्वार्थ और विराटकाय
दम्भ से
नीति की अनीति से युद्ध करो
मेरे वत्स !
उस जर्जर व्यवस्था से
जिसकी उपज हम खण्डित
व्यक्तित्व हैं
गर्व के मारे हुए, अहं से प्रताड़ित
व्यक्ति नहीं रहते प्रतीक बन
जाते हैं ।
गलती हुई परम्परा को फिर से
उठाने
और राज्याश्रित नैतिकता का
अर्थ मोड़ देने
को—अपने ही पक्ष में ।
युद्ध करो मेरे वत्स किन्तु ऐसा
युद्ध
जो रक्षित करे मानव की संस्कृति
घृणा का विस्तार नहीं
विस्तार हो ममता का !
त्याग का प्रेम का ।
जाति, कुल, गोत्रहीन मानव
भविष्य का !

कर्ण : सत्य कहा माता श्री ।
और मैं कहता हूँ माता तुम से
आज
किसी भी युग में
युद्ध के बाद या प्रारम्भ से पहले
ममता ही रक्षित करेगी मनुष्यता
को
सभ्यता को संस्कृति को
कुछ नहीं खोता है काल निज
गत
काल के गर्भ में ही—
ममता है घृणा है
विश्वास, अविश्वास है
द्वन्द्व संघर्ष है
किन्तु इन से परे मानव की

शक्ति है—
मानव के मूल्य हैं ।
(दूर से शंख ध्वनि सुनाई देती
है)

कुंती : मानव के मूल्य ! जीवन की
उदात्तता !
युद्ध से बचेगी क्या ?
इसीलिये फिर से एक बार
कहती हूँ ।
जाने से पहले अपने वीर पुत्र से
ममता निवेदन करती है बार
बार
(कातर दृष्टि से कर्ण की ओर
देखती है)

कर्ण : जाओ मां ! जाओ अब !
इस युद्ध को तुम ! रोक नहीं
पाओगी ।
किन्तु जितने भी
आंसू गिरे हैं तुम्हारे नेत्रों से
उन सबसे धरती यह
बार बार भीगेगी !

कुंती : रोये तो तुम भी हो वत्स
यह भी मेरे ही भाग्य में लिखा
था
तपस्वी के वेष में देखना
तुम्हारे आंसू !
यह भी पराजय है—मां की
पराजय है ।

कर्ण : नहीं, नहीं, ऐसा नहीं
जीवन रहेगा इन में ही मां
कलका मनुष्य
मुझे नहीं मालूम क्या क्या
टूटेगा ?
क्या क्या ढह जायेगा—?
टूटेंगे कंगूरे—और स्तम्भ ढह
जायेंगे—
फिर से बन जायेंगे
किन्तु जितने भी टूटेंगे
मनुष्य के ममता भरे दुर्ग
नहीं बन पायेंगे—

कुंती : एक बात और कर्ण ?

कर्ण : नहीं मां, अब नहीं—
भिक्षा मांगता हूँ तुम से

और नहीं कोई प्रश्न
युद्ध की बात नहीं—
फिर भी कह देता हूँ
मेरा शिराओं में जो दौड़ता है
रक्त
वह भी तुम्हारा है—
मेरे रोमों में जो अंकित है बार
बार
तुम्हारा ही भाव है !
आदि है युद्ध मां और युद्ध ही
अन्तिम है ।
चाहे रण क्षेत्र हो चाहे अथाह
मन ।

आदिम और अन्तिम के बीच
हैं हमारी सांसें
वह भी हमारी नहीं ।
लेकिन इस धरती पर जब तक
भी जीवित रहेगा
तुम्हारा तह अर्न्तद्वन्द्व—
मानव भविष्य कभी नष्ट नहीं
होगा
युद्ध की ज्वाला से
रणभूमि क्रन्दन से कापेगी
बार बार कोंपल से फूटेंगे जन्म
गीत

कुंती : लेकिन मुझे क्या मिला ?
सब कुछ को दांव पर लगाकर
भी
अब भी तुम—?

कर्ण : नहीं मां—नहीं मां
और नहीं कोई प्रश्न—
सिर्फ सन्तोष करो ।
जब तक भी जीवित रहेगी
यह तुम्हारी यात्रा—
कक्ष से कर्ण तक आने की यातना
तब तक नहीं टूटेगी कोमलता
बंधन की

कुंती : जैसा तुम कहते हो कभी नहीं
टूटेगी
किन्तु जो गोद सूनी होगी
इस युद्ध में ।
कभी भर पायेगी ?

(शेष पृष्ठ 78 पर)

जीवन मूल्यों की खोज

★ डा० भक्त राम शर्मा

विश्व साहित्य के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए हमें पहले सभी भारतीय भाषाओं में पहले सभी भारतीय भाषाओं में लिखे गये साहित्य के ही स्वस्थ तुलनात्मक मूल्यांकन के लिए उपयुक्त भूमिका तैयार करनी पड़ेगी; तभी हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को विश्व साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सही ढंग से आंका जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि गिने-चुने विश्वविद्यालयों में ही अभी तक भारतीय साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हो पाई है; और वह भी अत्यन्त दुर्बल है, जन्म से ही पाण्डु रोग से ग्रस्त है।

प्रश्न : सिद्धेश्वर जी, आप प्राध्यापक, राजनीतिज्ञ, लेखक, विचारक एवं पत्रकार रहे हैं। आपकी गणना देश के महान बुद्धिजीवियों में की जाती है। प्राचीन भारत में विचारक एवं बुद्धिजीवी राज्य का मार्गदर्शन ही नहीं करते थे, अपितु वे गलत राजनीति का विरोध एवं आलोचना भी करते थे। मध्यकाल और उसके बाद भी धर्म तथा विज्ञान के बीच संघर्ष में वैज्ञानिकों एवं विचारकों का संघर्ष संगठित धार्मिक सस्थाओं एवं परंपराओं से रहा है। इतिहास में ऐसी महत्वपूर्ण परम्पराएं हैं जिनमें बुद्धिजीवियों को स्वतंत्र विचार प्रकट करने के लिए अपने जीवन तक से हाथ धोना पड़ा। इस संदर्भ में आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवियों की क्या भूमिका रही है ?

उत्तर : आपका प्रश्न यद्यपि सामयिक प्रतीत होता है, फिर भी इसका महत्व समयातीत है। बुद्धिजीवी शब्द के बदले में मनीषी शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त मानता हूं। शब्द के प्रयोग एवं अर्थ के इस अन्तर को मैं भारतीय परम्परा की दृष्टि से ही नहीं अपितु पूर्ण मानव-परम्परा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण मानता हूं। बुद्धिजीवी शब्द के प्रयोग के साथ उसमें यह अर्थ भी निहित है कि बुद्धिजीवी अपने जीवको-पार्जन के लिए बुद्धि का सहारा लेता है और इस प्रकार शारीरिक श्रम के तिरस्कार की भावना भी उसमें आ सकती है। परन्तु मनीषी शब्द के साथ यह बात नहीं है। सच बात तो यह है कि भारतीय मनीषी या ऋषि आश्रम में रहते थे और आश्रम का आधार श्रमयुक्त साधना होती थी। यह दुर्भाग्य की बात है कि शब्द के इस मूल अर्थ और उससे जुड़ी जीवन-दृष्टि को विस्मृत कर दिया गया। इसी का परिणाम है कि अपने को बुद्धिजीवी मानने वाला

आज का व्यक्ति भौतिक-सुख सुविधाओं का इतना आदी हो गया है कि वह बाल्मीकि, व्यास या तुलसी की तरह साधना का मार्ग अपनाने के बदले सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के स्रोतों को बन्द कर दिये जाने के भय से साहित्य की साधना में अपने को असमर्थ पाता है।

प्रश्न : साहित्य निर्माण और राजनीति परम्परा विरोधी हैं। परन्तु आप राजनीति में रहते हुए भी साहित्य-निर्माण करते रहते हैं। इन परस्पर विषम क्षेत्रों का आप कैसे निर्वहण कर पाते हैं ?

उत्तर : मेरी दृष्टि में साहित्य और राजनीति परस्पर विरोधी नहीं है। यदि इनकी भूमिका रचनात्मक हो। पर मेरी तो यह मान्यता है कि जिस की भूमिका रचनात्मक नहीं है वह लेखन न तो साहित्य है और न अन्य वह कार्य राजनीति ही है। रचना-धामिता में ही विरोध के समाहार का तत्व निहित होता है। इसीलिए मैं श्री जयशंकर प्रसाद की कविता की उस परिभाषा को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता हूं जिसे उन्होंने “आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति” के रूप में व्यक्त किया है। गीता में कहा गया है—संशयात्मा बिनश्यति। पर आज जब संशय या संदेह को ही ज्ञान और विकास का मूल माना जा रहा है तब इस वातावरण में संकल्प और उससे जुड़ी रचना—धामिता के मूल तक आमतौर पर हमारी दृष्टि जा ही नहीं पाती। इसलिए जहां विरोध नहीं भी है वहां विरोध दिखाया जाता है, जहां संघर्ष नहीं भी है वहां उकसा कर संघर्ष पैदा किया जाता है और जहां भूख नहीं भी है वहां नाना प्रकार के विज्ञापनों और प्रलोभनों से कृत्रिम भूख पैदा की जाती है। यह जीवन का स्वस्थ रूप नहीं है और इसलिए इस वाता-

वरण में साहित्य और राजनीति में विरोध देखने की आम धारणा बन गई है। परन्तु रचनात्मक दृष्टि से प्रेरित व्यक्ति, चाहे उसका क्षेत्र साहित्य हो अथवा राजनीति अथवा और कुछ भी हो, विरोध की इस भूमिका का अतिक्रमण कर जब रचनात्मक दृष्टि को पालने में समर्थ होता है तब उसे विरोध में भी सृजन और संगति के तत्व नजर आने लगते हैं।

प्रश्न : आप एक जागरूक साहित्यकार हैं। आज विश्व की परिवर्तित परिस्थितियों में जीवन के परिवेश बदल गये हैं, सोचने के सभी तौर-तरीके तथा अभिव्यक्ति की शक्ति में बदल रही हैं, साहित्य के आयाम भी परिवर्तित हो रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में विश्व-साहित्य के संदर्भ में भारतीय साहित्य के मूल्यांकन की क्या कसौटियाँ होंगी ?

उत्तर : साहित्य साहित्य है। भाषा और भूगोल की दीवार उसकी आत्मा को अपनी सीमा रेखा में नहीं बांध सकती। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि एक ओर तो वैज्ञानिक साधनों के अप्रत्याशित विकास के कारण भौगोलिक दूरियाँ निरन्तर कम होती जा रही हैं, परन्तु दूसरी ओर मनुष्य के मन के स्वस्थ विकास के अभाव के कारण मन की दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। इसका एक ही उदाहरण काफी है। संसार के विभिन्न देशों के महानगरों में रहने वाले लोग अपने पड़ोसी तक को नहीं जानते, उनके सुख-दुख में भागी होने की बात तो आज बीते युग की कहानी बन गयी है। परन्तु जिस युग को हम पिछड़ा हुआ कहते हैं उसमें मनुष्य अपने पड़ोसी के सुख-दुख का सहभागी होता था क्योंकि उसका मन आधुनिक मनुष्य के मन की तुलना में अधिक उदार होता था। इसीलिए आज के इस वातावरण में साहित्यकार का दायित्व गुरुतर हो गया है। विज्ञान के पास ऐसे साधन नहीं हैं जिनकी मदद से मनुष्य के मन का विकास, विस्तार या संस्कार किया जा सकेगा। पश्चिम में आज दर्शन का जो अर्थ दिया जाता है उससे मनुष्य की भौतिक क्षमता का तो विकास होता है, पर मन की हिम शिला अखंडित ही रह जाती है। उसे पिघलाने के लिए साहित्य की जिस भावना की आंच प्रज्वलित करने की आवश्यकता है उसे आज सारी दुनियाँ में विज्ञान के धुआंधार प्रचार ने इस प्रकार से विकृत कर रखा है कि न केवल उसकी सीमा निरन्तर सिकुड़ती जा रही है बल्कि ऐसे दुष्प्रचारों के कारण उसकी साख भी गिरती जा रही है। यह स्थिति अणुबम के प्रयोग से भी अधिक भयावह है क्योंकि यदि साहित्य और कला के स्रोत सूख जाते हैं तो मनुष्य मनुष्य न रह कर केवल मशीन रह जाएगा, चाहे रॉबट के रूप में वह कितना भी शक्तिशाली हो जाय, परन्तु उसमें मनुष्यता नहीं रह जाएगी। इसलिए मेरी यह मान्यता रही है कि किसी

भी भाषा में लिखित सर्वश्रेष्ठ साहित्य विश्व साहित्य भंडार की अनमोल निधि है ; और इस दृष्टि से भारतीय साहित्य अपने उचित स्थान को पा कर रहेगा। हाँ, यह बात अवश्य है कि पिछले सैकड़ों वर्षों से यूरोप या अमेरिका में साहित्य या दर्शन के जो इतिहास लिखे जाते रहे हैं उनमें मूलतः पाश्चात्य परम्परा की गतिविधियों का उल्लेख होता आया है क्योंकि उनके ज्ञान की परिधि इतनी ही रह गई थी। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनके ज्ञान की परिधि के बाहर साहित्य की रचना नहीं होती रही या उस परिधि के बाहर जो साहित्य रचा गया वह उच्च कोटि का नहीं है। पर दुख की बात यह जरूर है कि पाश्चात्य परम्परा और उसके प्रभाव-क्षेत्र के बाहर रह कर स्वतंत्र रूप में विश्व-साहित्य का इतिहास लिखने का बहुत कम प्रयास किया गया है। और अब तक जो प्रयास किये भी गए हैं। वे उसी प्रकार से बचकाने हैं जिस प्रकार से पाश्चात्य लेखकों के प्रयास एकांगी। पर जैसा कि सभी जानते हैं, एक दोष से दूसरे दोष का परिमार्जन नहीं होता। अतः (विश्व-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य के मूल्यांकन करने के लिए हमें पहले सभी भारतीय भाषाओं में लिखे गये साहित्य के ही स्वस्थ तुलनात्मक मूल्यांकन के लिए उपयुक्त भूमिका तैयार करनी पड़ेगी; तभी हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य को विश्व साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सही ढंग से आँका जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि गिने-चुने विश्व-विद्यालयों में ही अभी तक भारतीय साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हो पाई है; और वह भी अत्यन्त दुर्बल है, जन्म से ही पाण्डु रोग से ग्रस्त है।

प्रश्न : सिद्धेश्वर जी, आपने एक स्थान पर लिखा है कि अनुभूति साहित्य का वह बिन्दु है जिस पर पूर्व और पश्चिम; प्राचीन और नवीन, लेखक, पाठक और आलोचक सभी का संगम संभव है। अथवा, वह वृत्त का केन्द्र है, जिससे परिधि पर के सभी बिन्दुओं (लेखक—पाठक—आलोचक) की दूरी समान है। इस धारणा के संदर्भ में साहित्य में साधारणीकरण किस का होता है ?

उत्तर : मेरी दृष्टि में अनुभूति साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। वैसे सामान्य और आध्यात्मिक जीवन में भी अनुभूति को सर्वाधिक महत्व देता हूँ। पर आपने अभी बात साहित्य की उठाई है, अतः इसी विषय तक अपने को सीमित रख रहा हूँ। “साहित्य का मूल्यांकन” नामक अपने ग्रन्थ में मैंने साहित्य के ऐसे मानदण्ड की खोज की है जो सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनीन हो। इसीलिए अपनी खोज के बाद मुझे जो निष्कर्ष मिला उसके आधार पर मैंने लिखा है कि अनुभूति साहित्य का वह बिन्दु है जिस पर पूर्व और पश्चिम; प्राचीन

और नवीन; लेखक, पाठक और आलोचक-सभी का संगम संभव है, अथवा वह वृत्त का वह केन्द्र है जिससे परिधि पर के सभी बिन्दुओं (लेखक—पाठक—आलोचक) की दूरी समान है। जब मानव-मात्र की एकता की बात कही जाती है तो यह स्पष्ट है कि इस एकता का आधार रंग रूप, राजनीति, धर्म या भाषा नहीं हो सकती। अवश्य ही इस एकता का आधार वह तत्व है जिसे आत्मा कहा जाता है। इस तत्व को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता, बल्कि यह अनुभूतिगम्य है। अनुभूति की यह शक्ति ही मनुष्य की दुर्लभ वस्तु है और इसके साथ जब कल्पना तत्व और अभिव्यक्ति शक्ति जुड़ जाती है तब सम्प्रेषण की क्रिया आरम्भ होती है। जिसमें केवल अनुभूति की शक्ति है। वह सामान्य पाठक या श्रोता या दर्शक है, पर जिसमें उस अनुभूति को व्यक्त करने की शक्ति है वह साहित्यकार, कलाकार और रचयिता है; जिसमें साहित्य या कला की केवल आस्वादन की क्षमता है वह पाठक, दार्शनिक या श्रोता है, पर जिसमें इसके अतिरिक्त भावन की भी क्षमता है वह आलोचक है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि अनुभूति ही साहित्य सहित सभी विधाओं और कलाओं की मूल है। इसी आधार पर मैं यह स्वभावतः मानता हूँ कि साधारणीकरण अनुभूति का होता है। आपको ऐसा लगता है कि साधारणीकरण की यह व्याख्या संस्कृत या हिन्दी के आचार्यों की व्याख्या में भिन्न है। बात सही है। परन्तु मेरी यह व्याख्या भरत मुनि की मूल स्थापना के विरुद्ध नहीं है बल्कि मेरी तो यह मान्यता है कि उनके “विभानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।” अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, सूत्र की मैंने जो व्याख्या की है वही उनकी मूल भावना के अनुरूप है। भरत मुनि ने अपने सूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी शब्दों का प्रयोग तो किया है, लेकिन स्थायी भाव का कोई उल्लेख ही नहीं है। पर सभी व्याख्याकार इस बात से सहमत हैं कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव वे माध्यम हैं जो स्थायी भाव का ऐसा संयोग उपस्थित करते हैं जिससे रस की निष्पत्ति होती है। यह सब तभी संभव है जब हम इस प्राचीन सूत्र के साथ अनुभूति के साधारणीकरण की संगति को स्वीकार कर चलें। यह दुर्भाग्य की बात है कि भरत सूत्र के आधुनिक व्याख्याकारों ने भी इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि पूरा रस सिद्धान्त एकांगी और अधूरे रूप में उपस्थित किया जाता रहा है जिससे ऐसा भ्रम पैदा होता है कि रस-सिद्धान्त की कमीटी पर आधुनिक साहित्य की परख नहीं की जा सकती। पर मैंने रस-सिद्धान्त की ओर उसी से, जुड़े साधारणीकरण की जो व्याख्या की है उसके आधार पर संपूर्ण विश्व की सभी भाषाओं के साहित्य का

आस्वादन, भावन और मूल्यांकन किया जा सकता है।

प्रश्न : आज के विज्ञान-प्रधान युग में विचारों की भूमि पर भी प्राचीन नवीन का, प्राच्य-पश्चात्य का, स्फोट हो रहा है। समस्या परम्परा की शृंखला से बंधी है। आपके विचार में इस समस्या के समाधान का आग्राम किस में निहित है ?

उत्तर : ऐसा कहा जाता है कि आज का युग विज्ञान प्रधान है। पर एक और सच्चाई यह है कि आज के मनुष्य की दृष्टि वैज्ञानिक नहीं है, यहां तक कि सभी वैज्ञानिकों की दृष्टि भी वैज्ञानिक नहीं है। विज्ञान सत्य की खोज है और जो सत्यनिष्ठ नहीं है उसे वैज्ञानिक कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार से जब यह विज्ञान प्रधान युग है तो इसमें सत्यनिष्ठा की प्रधानता होनी चाहिए थी। लेकिन आप सारी दुनिया में चारों तरफ दृष्टि दौड़ा कर देखें तो आपको आज स्पष्टतः सत्य के प्रति निष्ठा का अभाव दिखाई पड़ेगा। इसलिए प्राचीन-नवीन या प्राच्य-पश्चात्य का जो यथाकथित स्फोट दिखाई पड़ रहा है वह विज्ञान के कारण नहीं बल्कि नई और पुरानी रूढ़ियों के बीच आपसी संघर्ष के कारण है। इस मूल बात को गहराई से समझने की आवश्यकता है पर आपको आश्चर्य होगा कि इस बुनियादी बात की ओर अपने देश में, या बाहर भी विचारकों का ध्यान गया ही नहीं है। साहित्यकारों की मर्मभेदी दृष्टि भी इस ओर नहीं गई है।

आपने कहा है कि समस्या परम्परा की शृंखला से बंधी होती है। हां, समस्या शृंखला की परम्परा से जरूर बंधी होती है, परन्तु उसका समाधान शृंखला की परम्परा से नहीं बंधा होता। समाधान के लिए अक्सर परम्परा को तोड़कर नई परम्परा को बनाना होता है। परन्तु जब विचार और आचार की जड़ता के कारण जीवन में जड़ता आ जाती है तब मनुष्य लीक को छोड़कर चलने में हिचकिचाने लगता है और उसकी हिचकिचाहट के कारण ही समस्या का समाधान नहीं मिल पाता।

अतः मेरी दृष्टि में समस्या के समाधान का मार्ग यह है कि मनुष्य की विचार और आचार की शक्ति को विकसित किया जाय। विज्ञान से उसे जो साधन प्राप्त हुए हैं उनके कारण उसकी इन्द्रियों की भौतिक शक्ति में तो वृद्धि हुई है, परन्तु उसकी चिन्तन, मनन और संकल्प की शक्ति में वृद्धि का कोई साधन उसे विज्ञान से प्राप्त नहीं हुआ है। अपनी इस शक्ति को उसे साधना से विकसित करना होगा। जब उसमें यह शक्ति विकसित होगी तभी आचार और विचार की खाई पटेगी और तभी समस्या का समाधान भी प्राप्त होगा। इसके अभाव में कोरे तर्कवाद से कुछ हाथ लगने वाला नहीं है।

प्रश्न : आपकी दृष्टि में अन्य देशों की प्रजातंत्रीय शासन-पद्धति

कौ तुलना में भारतीय प्रजातंत्रीय पद्धति कितनी सफल अथवा असफल है ?

उत्तर : ऐसा लगता है कि शासन पद्धति के सम्बन्ध में अपने देश के विद्वान तक अनेक प्रकार की भ्रांतियों के शिकार हैं। संसार में न लोकतंत्र की कोई एक पद्धति है, न समाजवाद की और न तानाशाही की। फ्रांस का लोकतन्त्र इंग्लैंड से भिन्न है और इंग्लैंड का अमेरिका से, फिर भी ये सभी देश प्रजातांत्रिक ढाँचे के भीतर काम कर रहे हैं। इसी प्रकार से रूस का समाजवाद चीन से भिन्न है और चीन का समाजवाद युगोस्लाविया से। फिर भी ये सभी समाजवादी देश हैं। शासन-पद्धति के संबंध में मूल बात ध्यान में रखने की यह है कि हर राष्ट्र को अपने इतिहास, परम्परा और आवश्यकता के अनुसार अपनी शासन-पद्धति को विकसित करना होता है। इसलिए यदि हम किसी भी देश की शासन-पद्धति की नकल कर उसे हू-बहू भारत में उतारने की कोशिश करेंगे तो इस प्रयास में हमें विफलता तो मिलेगी ही, साथ ही भारत की प्रतिमा के साथ ऐसा करना घोर अन्याय भी होगा।

भारत में लोकतन्त्र की परम्परा संसार में प्राचीनतम है। परन्तु भारतीय लोकतन्त्र और राजतंत्र, दोनों में शासन पद्धति की जो परम्परा थी उसमें शासक चाहे वंशानुगत हो या जनता के द्वारा चुना हुआ, उसे उन सामाजिक मर्यादाओं के भीतर काम करना होता था जिससे पूरा समाज बंधा हुआ होता था। समाज पर सर्वोपरि नियमन का यह कार्य ऋषियों के द्वारा होता था। आज के संदर्भ में जब आचार्य विनोबा भावे आचार्य कुल की बात करते हैं तो उनका संकेत भारतीय परम्परा की इस विशेषता की ही ओर होता है। इसीलिए भारत में राजर्षि की जैसी परम्परा रही है वैसी संसार के अन्य देशों में नहीं थी। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने दार्शनिक शासक की कल्पना की थी। पर उसके बहुत पहले से भारत में ऐसे शासक होते आ रहे थे। वेचारे प्लेटो को इसका पता ही नहीं था और आज भी पश्चिम के राजनीतिशास्त्र विशारदों को इस परम्परा का पूरी तरह से पता नहीं है।

इसीलिए आज भारत से जिस लोकतन्त्रात्मक ढाँचे के भीतर शासन-पद्धति चलाई जा रही है। उसे मैं पाश्चात्य कसौटी पर न कसकर अपनी इतिहास, परम्परा और आवश्यकता की कसौटी पर कसता हूँ। ऐसी स्थिति में मुझे केवल इतना ही लगता है कि इस दृष्टि से भारत के लिए संसदीय पद्धति की तुलना में राष्ट्रपति पद्धति की व्यवस्था अधिक उपयुक्त होगी। इन सब के बावजूद मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि फ्रांस और जापान के बीच इतने बड़े भू-भाग में भारत ही एकमात्र लोक-

तांत्रिक देश है और इसकी यह सफलता अपने आप में ऐतिहासिक उदाहरण है।

प्रश्न : भारत को विदेशों में अपनी सही तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए क्या-क्या प्रयास करने चाहिए ?

उत्तर : भारत से अंग्रेज चले गये, परन्तु अंग्रेजी और अंग्रेजियत का दबदबा बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में भारत के बाहर सच्ची तस्वीर पेश करना आसान काम नहीं है। जिसे खुद भारत का पता न हो वह भारत की सच्ची तस्वीर क्या पेश करेगा ? इसीलिए आज आमतौर से भारत की जो तस्वीर पेश की जाती है वह भारत की नहीं, इंडिया की तस्वीर होती है।...

यदि है तो सबसे पहले हमें भारत में ही भारत की सच्ची तस्वीर पेश करनी होगी। इसके लिए जिस प्रकार से अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष कर उन्हें भारत छोड़ने के लिए मजबूर किया गया उसी प्रकार से अंग्रेजी और अंग्रेजियत को भी भारत छोड़ने के लिए मजबूर करना होगा। जब ऐसा हो जाएगा तभी सच्चे भारत की तस्वीर उभरेगी तभी विदेशों में भारत की सच्ची तस्वीर पेश करने का काम सफल हो सकता है।

प्रश्न : गत दो विश्व हिन्दी सम्मेलनों के आयोजनों में आपकी सक्रिय भूमिका रही है। पूर्व सम्मेलनों में हिन्दी प्रचार-प्रसार के हेतु अनेक प्रस्ताव पारित हुए थे। क्या आप बताने की चेष्टा करेंगे कि इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने में कितनी सफलता प्राप्त हुई ? तथा तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में क्या नवीनता होगी।

उत्तर : प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता दिलाना, वर्षा में विश्व हिन्दी सम्मेलन की विद्यापीठ की स्थापना करना, विश्व हिन्दी सम्मेलन की उपलब्धियों को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से ठोस योजना बनाना, ये तीन प्रमुख निर्णय लिये गये थे। संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी को मान्यता दिलाने का प्रयास जारी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यता प्राप्त भाषाओं के लिए हिन्दी में पर्याप्त संख्या में द्विभाषिये और अनुवादक तैयार किये जायें। इनके अभाव में संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य ऐसी विश्व संस्थाओं में हिन्दी को मान्यता नहीं मिल सकती।

वर्षा में विश्व हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की जा चुकी है। लेकिन अभी तक इसे सरकार की मान्यता नहीं मिली। इसके लिए प्रयास जारी है। विश्व हिन्दी विद्यापीठ की दिल्ली में भी एक शाखा स्थापित की जा रही है जिसमें हिन्दी के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यता प्राप्त भाषाओं के लिए द्विभाषिये और अनुवादक तैयार करने का

कार्य होगा। बाद में संसार की अन्य प्रमुख भाषाओं के लिए भी इसी प्रकार से प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाएगी।

विश्व हिन्दी सम्मेलन की उपलब्धियों को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से कोई ठोस योजना अभी तक नहीं बनाई जा सकी। इसका कारण यह है कि विश्व हिन्दी विद्यापीठ जब तक समुचित रूप में कार्य नहीं करने लगता तब तक उपलब्धियों को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए कोई ठोस योजना कौन बनाये? और फिर उस योजना को कौन कार्यान्वित करे? अतः तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन करने के साथ-साथ इस बात पर भी पूरा ध्यान दिया जा रहा है कि विश्व हिन्दी विद्यापीठ की मान्यता के साथ-साथ उसके माध्यम से विश्व हिन्दी सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक व्यवस्था भी हो।

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों की शृंखला की एक कड़ी होगी। इसकी नवीनता के सम्बन्ध में मैं अभी कुछ कहना नहीं चाहता हूँ। इस पर सम्मेलन की समाप्ति के बाद आप सब लोग खुद ही विचार कर सकेंगे।

प्रश्न : आप हिन्दी के अनन्य उपासक हैं तथा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा से जुड़े हुए हैं। भारत अपनी स्वतन्त्रता की 35वीं वर्ष गांठ मना चुका है। परन्तु अभी हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं बना सका है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने इस दिशा में क्या-क्या पग उठाये हैं? और इनमें उसे क्या-क्या सफलता मिली है? तथा साथ ही यह भी बताने की कृपा करें कि समिति की भावी योजनाएं क्या हैं?

उत्तर : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना पूज्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने की थी। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसकी स्थापना राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के लिए की गई थी। अपने स्थापना-काल से यह संस्था निरन्तर राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रसार-प्रचार में लगी रही है और आज भी लगी हुई है। इन वर्षों में इस संस्था ने करोड़ों से भी अधिक लोगों को हिन्दी सिखाई और उनमें से हजारों अभी हिन्दी के माध्यम से अपना काम-काज चला रहे हैं।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन किया था। द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन को सफल बनाने में हर प्रकार का सहयोग दिया था और अब तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन कर रही है। साथ ही राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने अपने प्रांगण में विश्व हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना के दायित्व को सहर्ष स्वीकार किया। अब यह तो भारत तथा संसार के अन्य देशों के हिन्दी-प्रेमियों के ऊपर निर्भर

करता है कि इस विद्यापीठ को हर प्रकार से सफल बनाने में वे कितना सहयोग प्रदान कर सकते हैं। भारत सरकार, राज्य सरकारों एवं विश्व के सभी हिन्दी-प्रेमियों का विश्व हिन्दी विद्यापीठ और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को जितना अधिक सहयोग प्राप्त होगा उतनी ही अधिक सफलता के साथ यह संस्था अपने दायित्व का निर्वाह कर हिन्दी को विश्व-भाषा के रूप में तेजी के साथ विकसित करने में सफल हो सकेगी तथा हिन्दी के माध्यम से विश्व-बन्धुत्व का संदेश देने का उनका जो लक्ष्य है वह भी पूरा हो सकेगा।

प्रश्न : इन दिनों आपकी “ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्” नामक सद्यः प्रकाशित पुस्तक की बड़ी चर्चा है। इसे दसवां शास्त्र कहा जा रहा है। राजनीति और साहित्य से इतनी गहराई से जुड़े होने के बाद भी आपने मूल दार्शनिक समस्याओं पर विचार करने तथा उन्हें सूत्रबद्ध करने के लिए कहां से प्रेरणा प्राप्त की तथा इसके लिए समय आपको कैसे मिल पाया? आपकी अन्य पूर्ववर्ती रचनाओं से इसका किस प्रकार से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है?

उत्तर : “ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्” सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक, जैन और बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के बाद, दसवां दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रेरक ग्रंथ है, आपके—कथन के सम्बन्ध में मेरे लिए कुछ भी कहना अत्यन्त कठिन है। ऐसा में संकोचवश नहीं कह रहा हूँ बल्कि इसलिए कि किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक होना, खासतौर से भारत में, आसान बात नहीं है। अतः इसका निर्णय तो इतिहास ही करेगा।

“छायावादोत्तर काव्य”, “साहित्य का मूल्यांकन”, “उपनिषद् चिन्तन और आधुनिक जीवन”, आदि अपनी अन्य रचनाओं में भी मैंने सत्य के प्रति निष्ठा को सर्वोपरि माना है और साथ ही जीवन को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने पर ही सदा जोर दिया है। इसीलिए “साहित्य के मूल्यांकन” में मैंने कहा है कि जीवन को खण्डों में बांट कर नहीं देखा जा सकता। इस वार्तालाप के आरम्भ में भी मैं यह कह चुका हूँ कि सत्यनिष्ठा मेरी दृष्टि में सर्वोपरी है। इस दृष्टि से मैं राजनैतिक या सामाजिक या साहित्यिक जीवन को खण्डों में बांट कर नहीं देखता बल्कि इन सबकी समग्रता में ही जीवन को ग्रहण करता हूँ।

महात्मा गांधी एवं आचार्य विनोबा के निकट सम्पर्क तथा ऐसे युग-प्रवर्तक महापुरुषों के बावजूद वर्तमान वातावरण की विसंगतियों ने मुझे आरम्भ से हर इस बात के लिए प्रेरित किया कि भारतीय समाज की कमजोरियों पर और गहराई में जाकर विचार करने की ज़रूरत है और जब मैंने इस दृष्टि से पूरी भारतीय चिन्तन परम्परा और इतिहास पर विचार किया तो मुझे ऐसा लगा कि चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैत या अभेद और व्यवहार के क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था या भेद के कारण ही भारतीय

समाज में वह दुर्बलता आ गई जिसके कारण सदियों तक इसे पद-दलित होना पड़ा। आज भी यह इस द्वैत को अपनाए हुए है। जब तक इसे दूर नहीं किया जाता तब तक भारत अपनी खोई हुई गरिमा को न तो प्राप्त कर सकता है और न इसमें तेजस्विता ही आ सकती है।

ऐसा विचार करते समय यह भी प्रतीत हुआ कि विदेशी विचारधारा की जो भ्रांत धारणाएं भारतीय जीवन को प्रभावित कर रही हैं उनका भी निराकरण आवश्यक है। इसलिए मुझे विदेशी विचारधारा के मूल को भी खोजना पड़ा और उनकी सही व्याख्या करनी पड़ी।

ब्रह्म का अर्थ है विस्तार। वैज्ञानिक भी मानते हैं कि सृष्टि का निरन्तर विस्तार हो रहा है। अतः विस्फोट से जिस ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई वह निरन्तर विस्तृत होता जा रहा है। दूसरी तरफ वैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि वे सत्य की खोज कर रहे हैं। विज्ञान का अब तक प्राप्त अंतिम सत्य यह है कि द्रव्य ऊर्जा में और ऊर्जा द्रव्य में परिवर्तनशील है। लेकिन इस वैज्ञानिक निष्कर्ष की दार्शनिक निष्पत्ति पर विचार किया ही नहीं गया। इन सारी बातों के परिप्रेक्ष्य में मैंने सत्य की एकांगी व्याख्या को छोड़ कर उसकी पूर्ण व्याख्या करने का जब प्रयास आरम्भ किया तो स्वभावतः ब्राह्मविज्ञान अर्थात् चेतना के निरन्तर विस्तार के विज्ञान के रहस्य की प्राप्ति हुई। उसी की व्याख्या करने के लिए “ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्” की रचना की गई।

श्रुति, स्मृति और विज्ञान, ये तीन शब्द हैं जिनके माध्यम से ब्रह्मविज्ञानोपनिषद् के मूल को समझा जा सकता है। श्रुति अर्थात् अध्यात्मिक-विज्ञान, स्मृति अर्थात् समाज-विज्ञान और विज्ञान अर्थात् भौतिक विज्ञान—इन तीनों के समन्वय और संयोग से जीवन विज्ञान बनता है। जीवन विज्ञान मृत तत्व का वह विज्ञान नहीं है जिसमें एक में से एक के निकाल लेने पर शून्य मात्र बचा रहता है, बल्कि अमृत तत्व का वह विज्ञान है जिसमें वट वृक्ष के फल के एक बीज के नष्ट होने पर ये उससे पुनः एक विशाल वट वृक्ष उत्पन्न होता है। इसीलिए जीवन का विज्ञान पूर्ण से पूर्ण की प्राप्ति का विज्ञान है।

“ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्” के माध्यम से मैंने पूर्व और पश्चिम की ही नहीं बल्कि प्राचीन और आधुनिक तथा अध्यात्म और भौतिक जीवन के सभी स्वरूपों और पक्षों को देखने और समझने का प्रयास किया है तथा एक ऐसे जीवन-दर्शन को उपस्थित करने का प्रयास किया है जो पूर्णता की साधना का और जीवन की समग्रता की साधना का एक साथ मार्ग प्रशस्त करता है। अब यह तो सुधि पाठक ही बताएंगे कि इस प्रयास में मुझे कहां तक सफलता मिली।

—13/236, गीता कालोनी,
गांधी नगर, दिल्ली-110031

उत्तर : मैं समकालीन साहित्य से लगभग अपरिचित हूं। मेरा नियम यह है कि मैं जिस विषय पर काम करता हूं उसी से सम्बन्धित सामग्री पढ़ता हूं। पहले पढ़ता था पर अब स्वास्थ्य और शरीर उतना साथ नहीं देता है इसलिए शिवदान सिंह चौहान या नामवर सिंह के बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। शिवदान सिंह चौहान मेरे मित्र हैं। पिछले नवम्बर में उनसे भेंट हुई थी किन्तु एक समारोह में। हम लोग मिलने पर अपने-अपने घर परिवार के बारे में चर्चा करते हैं। नामवर सिंह भी मेरे मित्र हैं और उनसे अक्सर भेंट होती रहती है। मेरे पढ़ने लिखने के काम में वह काफी सहायता करते हैं। पर स्वयं वह कहां क्या लिखते हैं वह सब देखने समझने का समय मुझे नहीं मिलता।

प्रश्न : डा० साहब मेरा यह आखिरी सवाल है। वह यह कि सच में जो रचनाकार है उनकी सही समीक्षा के क्षेत्र में बड़े व्यवधान हैं। वही रचनाकार चर्चित हो पाता है जो अच्छे समीक्षकों और साहित्यकारों के आस-पास की जमीन का होता है। ऐसे में जनता का लेखक या सच्चा साहित्यकार पाठकों और जनता के बीच समय से आने में असमर्थ रहता है। ऐसे में कभी-कभी तो पूरी समीक्षा-आलोचना और साहित्य की दिशा ही बदल जाती है क्योंकि चर्चा के विषय वह कवि और लेखक हैं जो उन्हें मिल जाते हैं। लगता है समीक्षकों के प्रतिमान अब व्यक्ति और सम्बन्ध हो गये हैं। इस पर आपके क्या विचार हैं। मुझे तो संगठन इसी के परिणाम लगते हैं।

उत्तर : देखो—पुष्पा—अगर हिंदुस्तान में वामपंथी आंदोलन विघटित होगा तो साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ेगा। प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ बनने का यही कारण है। इसके लिए मार्क्सवाद का गहराई से अध्ययन—सही साहित्य की समझ और पकड़ नये पुराने भारत के बारे में ज्ञान आदि जानना बेहद जरूरी है। तभी ईमानदारी आयेगी। मैं भारत का इतिहास इसीलिए लिख रहा हूं अगर यह कोई जमीन तैयार कर सका तो शेष कार्य हो जायेंगे।

सवाल खतम होते ही पेपर पैन हमने बैग में रक्खा। डा० साहब को अन्दाजा हो गया कि मैं जल्दी में हूं। बड़े स्नेह से कहा कुछ खा पीकर जाओ। मैंने कहा—बाहर बादल घिरे हैं। डा० साहब ने गम्भीरता से कहा—अभी बरसेंगे नहीं। जब तक तुम अपनी जगह पहुंच नहीं जाओगी। □

द्वारा लक्ष्मी शंकर व्यास
के 13/51 काल भैरव
वाराणसी-221081

अंधेरे बंद कमरे रूसी भाषा में प्रकाशित

विख्यात हिन्दी लेखक मोहन राकेश का उपन्यास “अंधेरे बंद कमरे” रूसी भाषा में सोवियत प्रकाशन गृह “खुदोजे-स्त्वेन्नाया लितेरातुरा” (कथा-साहित्य) द्वारा “बीसवीं सदी के विश्व उपन्यास” पुस्तकमाला में प्रकाशित किया गया है।

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य है सोवियत पाठकों को आधुनिक विश्व साहित्य की सर्वोत्तम कृतियों से परिचित कराना। अनेक खंडों वाली इस पुस्तकमाला में पिछले 25 वर्षों के दौरान रवीन्द्रनाथ ठाकुर, एम० ए० नोक्स, ई० एम० रेमार्क, रिचर्ड ओल्डिंग्टन, मार्सेल प्रुस्त, जी० गेस्त, विलियम फाकनर, विलियम सारोयान, जोर्जी अमादू आदि के समान साहित्यकारों की सर्वोत्तम कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं।

पुस्तक के रूसी संस्करण की भूमिका में विख्यात भारतविद् तथा आधुनिक भारतीय साहित्य के सोवियत विशेषज्ञ डा० व्लादीमिर लानकिन ने उन अनेक भारतीय लेखकों की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है जिनका स्वाधीनता के बाद भारतीय साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ तथा जिन्हें विशेष रूप से सातवें दशक के आरम्भ में ख्याति प्राप्त हुई। डा० लानकिन ने मोहन राकेश को इस कोटि के साहित्यकारों का एक श्रेष्ठ प्रतिनिधि माना है। उन्होंने लिखा है—“साहित्य में शैलीगत प्रयोगों के बावजूद ये साहित्यकार अपने युग की मूलभूत समस्याओं से जुड़े रहे तथा इन्होंने यथार्थ का सही-सही चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयास किया।”

डा० लानकिन ने आगे लिखा है—“बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि मोहन राकेश ने जो प्रतिभापूर्ण रचनाएं और सशक्त लेखादि प्रस्तुत किये उन्होंने न केवल उनके समकालीन लेखकों को बल्कि नई पीढ़ी के लेखकों के लिए भी मार्गदर्शन की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्ति के विकास को मोहन राकेश की रचनाओं ने बहुत अधिक प्रभावित किया।”

डा० लानकिन ने “अंधेरे बंद कमरे” का, जिसे मोहन राकेश की एक श्रेष्ठ कृति माना जाता है, विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उपन्यास के मुख्य पात्रों—मधुसूदन, हरबंस और नीलिमा की चरित्रगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला है, तथा लिखा है कि “इस उपन्यास का मुख्य विषय है एक रचनाकार और समाज के परस्पर संबंधों को, जीवन में कलाकार की भूमिका और उसके स्थान को उजागर करना तथा जनमत को प्रभावित करने की उसकी क्षमता को स्पष्ट करना।”

डा० लानकिन ने अन्त में लिखा है—“मोहन राकेश के उपन्यास ‘अंधेरे बंद कमरे’ की प्रभावकारिता और सशक्तता का आधार है इस रचना की बहुविधता, तथा उन समस्याओं की अनेकता जिन्हें इसमें उठाया गया है और जिनमें से अनेक समस्याओं की सामयिकता और तात्कालिकता आज भी मौजूद है। एक उपन्यासकार के रूप में मोहन राकेश की उल्लेखनीय रचना-क्षमता का यह एक स्पष्ट प्रमाण है।”

गीत

होंठ पर

बांसुरी की तरह
थरथराहट सजाते रहे,
पत्थरों-पत्थरों
इब-आ
एक मौसम उगाते रहे।
फिर घने
जंगलों की तरफ
सोच के
रास्ते मुड़ गये
कुछ भयानक
घटित सा हुआ
हम स्वयं से
स्वयं जुड़ गये
स्वप्न कुछ

□ साहेब्वर तिवारी

जुगनुओं की तरह
नींद में टिमटिमाते रहे।
याद की
धूप में देर तक
बर्फ से
हम पिघलते रहे
अग्निगर्भा
सतह की तरह
छटपटाते,
उबलते रहे
एक मीनार की
गुम्बदें
हम बनाते, ढहाते रहे।

—प्रकाश भवन, गोकलदास रोड,
मुद्राबाबाव (उ. प्र.)

शताब्दियों पूर्व जापान में बौद्ध धर्म के आगमन के साथ जापान और भारत के बीच जिस सांस्कृतिक सम्बन्ध का सूत्र पात हुआ, उसने जापान के जन-जीवन पर सर्वतोमुखी प्रभाव डाला है। बौद्ध धर्म के प्रति आस्था ने भारत की प्राचीन भाषाओं—संस्कृत और पाली के अध्ययन की रुचि को जन्म दिया और जापान के बौद्ध मन्दिरों में इन दोनों भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन काफी समय से होता रहा है। आज भी जापान के अनेक विश्वविद्यालयों और संस्थानों में इन भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था है। भारत से बाहर संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थियों की सम्भवतः सबसे अधिक संख्या जापान में मिलेगी।

1911 में 'तोक्यो स्कूल आफ फॉरेन लैंग्वेजेज' में हिन्दुस्तानी विभाग की स्थापना के साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन की नींव पड़ी। सर्वप्रथम हिन्दुस्तानी और तमिल की कक्षाएं आरम्भ हुईं। उन दिनों हिन्दुस्तानी और उर्दू में कोई भेद नहीं माना जाता था और वस्तुतः हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू ही यहां पढ़ाई जाती थी। तमिल की कक्षाएं सफल नहीं हुईं और शीघ्र समाप्त कर दी गयी। अध्यापकों में देवीलाल सिंह, हैनरी ड्रैमोण्ड, के० आर० सावरकर, वेदरुल इस्लाम फजली

पर हिन्दी पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर चुके थे। श्री दोई जापान में हिन्दी के अग्रदूत बने और इनकी नियुक्ति के साथ स्वतन्त्र हिंदी-विभाग की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत ने जापान के साथ नियमित कूटनीतिक संबंध स्थापित किए और तोक्यो में भारतीय दूतावास की स्थापना हुई। प्रो० दोई के प्रयत्नों से दूतावास के तत्कालीन प्रथम सचिव की पत्नी श्रीमती कमला रत्नम् ने सप्ताह में दो घण्टे हिन्दी पढ़ाना आरम्भ किया। श्री रत्नम् के लौटने के पश्चात् कृपालसिंह सखावत नामक एक भारतीय विद्यार्थी अंश-कालिक अध्यापक नियुक्त हुए। श्री सखावत उन दिनों जापान में चित्रकला का अध्ययन कर रहे थे। भारतीय दूतावास के सदस्यों का सहयोग भी विश्वविद्यालय को मिलता रहा। दूतावास के एक सैनिक सचिव कर्नल खन्ना की पत्नी श्रीमती खन्ना की सेवाओं के उपलक्ष्य में विश्वविद्यालय में 'खन्ना रजत पदक' की स्थापना हुई जो प्रतिवर्ष विश्वविद्यालय में हिन्दी में सर्वप्रथम आने वाले विद्यार्थी को दिया जाता रहा। 1962-65 में जब इन पंक्तियों के लेखक जापान में थे, उनकी आबाज में हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों के टेप तैयार किये गये थे।

जापान में हिन्दी

★ डा० सत्य भूषण वर्मा

और मोहम्मद नुरुलहसन के नाम उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। इनमें हसन साहब का सम्बन्ध स्कूल के साथ सबसे अधिक रहा है और 1932 से 1949 तक के बीच इस स्कूल में हिन्दी के अध्यापन के अतिरिक्त उन्होंने जापान पर अनेक लेख और कुछ पुस्तकें भी लिखीं।

कालान्तर में स्कूल ने 'तोक्यो युनिवर्सिटी आफ फारेन स्टडीज' का रूप ग्रहण किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में हिन्दुस्तानी विभाग का नाम 'भारतीय भाषा-विभाग' कर दिया गया। उन्हीं दिनों नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के जापान आगमन के साथ इस विद्यालय के साथ भी उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ और विद्यार्थियों में हिन्दुस्तानी सीखने की रुचि काफी बढ़ी। स्कूल के कितने ही स्नातकों ने स्वेच्छा से आजाद हिन्द फौज में दुभाषिये के काम के लिये अपनी सेवाएं अर्पित कीं। इन्हीं दिनों हिन्दी के विशेष अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी।

विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 1945 में विद्यालय को क्यूया दोई नामक एक भूतपूर्व सैनिक की सेवाएं प्राप्त हुईं जो इसी विद्यालय के स्नातक थे और बर्मा तथा सिंगापुर के मोर्चे

जापान और भारत के बीच आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों के विकास के साथ जापान में हिन्दी के अध्ययन की आवश्यकता पर भी अधिक बल दिया जाने लगा। प्रो० दोई ने भारत आकर 1953 से 1955 तक दो वर्ष इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया। उसके पश्चात् हिन्दी के अध्ययन के लिए भारत आने वाले जापानी विद्यार्थियों का एक निरन्तर क्रम बना रहा। तोक्यो युनिवर्सिटी आफ फारेन स्टडीज की तरह पश्चिम जापान के महत्वपूर्ण व्यापारिक और औद्योगिक नगर ओसाका की 'ओसाका युनिवर्सिटी आफ फारेन स्टडीज' में भी हिन्दी विभाग की स्थापना हुई, जहां 'तोक्यो युनिवर्सिटी आफ फारेन स्टडीज' के एक स्नातक एइजो सावा हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए नियुक्त हुए। प्रो० सावा ने 1961 में अवकाश ग्रहण कर लिया और दो वर्ष पश्चात् उनके भारतीय सहयोगी अध्यापक संतराम वर्मा का स्वर्गवास हो गया। आजकल वहां के हिन्दी विभाग के प्रमुख अध्यापक प्रो० कात्सुरो कोगा हैं जो हिन्दी के अच्छे विद्वान हैं। प्रो० कोगा ने एक संक्षिप्त हिन्दी जापानी शब्दकोष भी तैयार किया है। प्रो० दोई तोक्यो के विदेशी भाषा विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं और हाल ही में उनका निधन हो गया है।

उनके स्थान पर तोक्यो के विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रमुख अध्यापक हैं प्रोफेसर तोशिओ तानाका ।

तोक्यो और ओसाका के विदेशी-भाषा-विश्वविद्यालयों में हिन्दी का चार वर्षीय स्नातक पाठ्य-क्रम है । प्रतिवर्ष 15 विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जाता है । इस प्रकार इन दोनों विश्वविद्यालयों में चार वर्षीय पाठ्यक्रम में प्रतिवर्ष लगभग 100 से भी अधिक विद्यार्थी हिन्दी पढ़ते हैं । इनमें से कुछ विद्यार्थी उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् एम०ए० में भी प्रवेश प्राप्त करते हैं । अनेक विद्यार्थी अध्ययन काल में ही निजी खर्च पर भारत की यात्रा भी करते हैं ।

तोक्यो स्थित ताकुशोक विश्वविद्यालय में भारत-अध्ययन पाठ्यक्रम के अन्तर्गत हिन्दी के सामान्य ज्ञान की शिक्षा भी दी जाती है । इस पाठ्यक्रम के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष में लगभग 50-50 विद्यार्थी होते हैं । चूओ गाकुइन विश्वविद्यालय में हिन्दी एक अनिवार्य द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है जिसमें विद्यार्थियों की संख्या 100 तक पहुँच जाती है । तोकाई विश्व-विद्यालय में चार वर्षीय पाठ्यक्रम में प्रतिवर्ष 10 विद्यार्थी लिये जाते हैं । एशिया-अफ्रीकी भाषा संस्थान में दिन के दो वर्षीय पाठ्यक्रम में चीनी, अरबी, इन्डोनेशियाई और हिन्दी चार भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं । रात्रि कक्षाएँ भी लगती हैं । वसन्त और ग्रीष्म की छुट्टियों में एक महीने के अल्पकालीन पाठ्यक्रम भी होते हैं । जिनमें 15-16 विद्यार्थी आते हैं । तोक्यो के आसाही संस्कृति-संस्थान और भारत जापान परिषद् (निचिइन क्योकाई) की ओर से भी हिन्दी के अध्यापन की व्यवस्था है । इनके अतिरिक्त ताइशो विश्वविद्यालय, ओतानि विश्वविद्यालय, ओत्तेमोन गाकुइन विश्वविद्यालय और कान्साई विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय में भी हिन्दी की पढ़ाई होती है ।

आरम्भ में तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में हिन्दी और उर्दू दोनों का ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जाता था । पहले वर्ष विद्यार्थी को उर्दू पढ़ायी जाती थी । दूसरे वर्ष हिन्दी उसके पश्चात् विद्यार्थी हिन्दी अथवा उर्दू के अलग-अलग वर्गों में बाँट दिये जाते थे । 1959 से हिन्दी का अध्ययन भारत और उर्दू का अध्ययन पाकिस्तान उप-विभाग के अन्तर्गत होने लगा । ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में भी यहाँ व्यवस्था रही । अतः जापान के अनेक हिन्दी विद्वान हिन्दी के साथ उर्दू में भी निष्णत हैं । जापान के प्रमुख हिन्दी विद्वानों में क्यूयादोई, एइजोसावा, तोशियो तानाका, कात्सुदो, कोगा, तोमियो मिजुकामि, काजुहिको माचिदा, तेइजि साकाता, शोदो ताकि, नाकामुरा, कोकिनागा, डा० नोरिहिका उचिदा आदि नाम उल्लेखनीय हैं । भारतीय अध्यापकों में डा० लक्ष्मीधर मालवीय, श्यामसुन्दर जोशी, डा० नरेश मंत्री, डा० रमेश माथुर आदि हैं । जापान प्रसारण निगम (एन० एच० के०) के हिन्दी प्रसारण में आकिरा इनाहारा का नाम उल्लेखनीय कहा जा सकता है ।

जापान में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की लगभग 60 वर्ष से अधिक लम्बी परम्परा है । तोक्यो विदेशी-भाषा विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय में ही लगभग 50,000 से अधिक हिन्दी पुस्तकें हैं जिनमें अनेक दुर्लभ ग्रन्थ हैं । संख्या की दृष्टि से इस पुस्तकालय में जापानी और अंग्रेजी के पश्चात् हिन्दी पुस्तकों का तीसरा स्थान है । कान्साई विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय में भी हिन्दी पुस्तकों का अच्छा संग्रह है । इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संस्थान ने जापानी साहित्य पर हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित भी की हैं । जापान के हिन्दी टाइप-राइटर का कुंजी-पटल सामान्य से अधिक बड़ा है और उसमें संयुक्त अक्षरों के लिए अलग कंजियाँ हैं । इसके अक्षर भी अधिक बड़े तथा अधिक सुन्दर हैं ।

तोक्यो विदेशी-भाषा-विश्वविद्यालय की ओर से जापानी में एक नियमित पत्र 'इन्दो बुंका' (भारतीय साहित्य) का प्रकाशन हो रहा है । जिसमें हिन्दी, उर्दू रचनाओं के जापानी अनुवाद और लेख प्रकाशित होते हैं । तेइजि साकाता के सम्पादन में 'अंक' नामक एक पत्रिका भी जापानी में निकली थी जो बंद हो गयी । इसमें भी हिन्दी साहित्य के अनुवाद और लेख प्रकाशित हुए हैं । 'इन्दो बुंका' (भारतीय संस्कृति) जापान-भारत सांस्कृतिक परिषद् (निचि-इन बुंका क्योकाई) की पत्रिका है जिसमें हिन्दी के अनुवाद प्रकाशित होते रहे हैं । इसके विशेषांकों में 'समकालीन भारतीय साहित्य विशेषांक' और 'प्रेमचंद विशेषांक' भी हैं । भारत-जापान संघ (निचिइन क्योकाई) के मासिक पत्र 'इन्दो' (भारत) में भारत-जापान संबंधी सांस्कृतिक समाचार प्रकाशित होते हैं । योशिआकि सुजाकि ने 'ज्वालामुखी' नाम से हिन्दी में एक वार्षिक पत्रिका निकाली है जिसमें केवल जापानी लेखकों की हिन्दी रचनाएँ प्रकाशित होती हैं । इस पत्रिका के तीन अंक प्रकाशित हो चुके हैं । भाषा, सामग्री, संपादन किसी भी दृष्टि से यह पत्रिका हिन्दी की एक स्तरीय पत्रिका के समकक्ष रखी जा सकती है ।

हिन्दी से जापानी में संभवतः सबसे अधिक अनुवाद प्रेमचंद साहित्य का हुआ है । 1936 में केशोराम सब्बजाल ने प्रेमचंद की तीन कहानियों मृतकभोज, मंत्र और बलिदान का जापानी में अनुवाद किया । उसके पश्चात् अब तक प्रेमचंद की 50 से अधिक कहानियों के जापानी में अनुवाद हो चुके हैं । मंत्र का अनुवाद योशितोशि मिसुमि (1939) ने, मृतक भोज का ताकोश सुजाकि (1967) ने, बलिदान का त्सुनेओ कुरोयानागि (1955) ने किया है । कफन के अनुवाद एइजो सावा और मुराकामि ने किये हैं । प्रो० दोई ने 'बेटों वाली विधवा', 'रामलीला', 'ब्रह्मा का स्वांग' आदि अनेक कहानियों के अतिरिक्त गोदान (1959) का अनुवाद भी किया है । दूधनाथ सिंह के उपन्यास 'उसका मोर्चा' का भी जापानी में अनुवाद हो चुका है । कवियों में निराला, पंत, दिनकर और अज्ञेय के अनुवाद जापानी में उपलब्ध हैं । योशिआकि सुजाकि और प्रो० दोई ने कुछ हिन्दी

(शेष पृष्ठ 61 पर)

मैं वैश्या नहीं हूँ

जया रमेश

दरअसल मैं ही देर से लौटी। वह तो सुना मुबह से अपने सामान के साथ खड़ी मेरे कमरे के आगे धरना दिये बैठी थी। मुझे देखते ही उसने राहत की सांस ली बुदबुदाई, "ओ गाड नाउ आइ एम सेफ।"

"क्यों क्या हो गया ऐसा तुम्हारे साथ।" असुरक्षा वाली क्या बात है? मैं ठीक उसके सामने खड़ी थी। मैंने पूछा।

"अरे डियर, तुम्हें क्या मालूम... खैर छोड़ो भी। तुम प्लीज चुप रहो। मुझ से मेरी जिंदगी का हाल न पूछो। मैं अपने आप से बातें करना चाहती हूँ।" वह मुझसे मुखातिब होकर भी स्वयं अपने आप से बड़बड़ा रही थी। किसी को क्या मालूम कि जिंदगी कैसे-कैसे मोड़ों से गुजरती है। थैंक गॉड, ऐसा किसी के साथ न हो। कौन जाने कोई लड़की मेरी जगह होती तो मर जाती। रियली आय एम वेरी लकी गर्ल—आय एम प्राउड आफ माई सेल्फ बिकाँज आई एम सेल्फ मेड—मैंने खुद को अपने हाथों से बनाया है। मेरे अंदर इतनी हिम्मत है। टेलेंट है—प्राउड है मुझे अपने ऊपर। कोई मेरे बारे में क्या जाने। जब मैंने किसी से कहा हो तब ना—कहूँ भी क्यों। कोई विश्वास ही क्यों करने लगा मुझ पर।" वह लगातार बड़बड़ा रही थी और मैं भौंचक्की सी खड़ी उसे ताक रही थी जिसने मुझे देख कर भी मेरी उपस्थिति को एकदम नकार दिया था।

उस का नाम रंजना शर्मा था। वह बापनू घर में आयी थी। बापनू घर की लड़कियों के लिए एक बड़ा कमरा था जिस में तीन बेड आसानी से लगाये जा सकते थे—साथ ही कमरे के

एक कोने में पार्टीशन कर के छोटा सा किचन एवं दूसरे कोने में वाँशवेसिन की व्यवस्था थी। कुल मिला कर वह कमरा एक छोटे से घर का अहसास जगाता था। उसके अंदर ऐसी व्यवस्था इसलिए भी की गयी थी कि कभी-कभी बापनू घर में कोई एबनार्मल लड़की या कोई मेंटल केस आ जाता जिसे बाहर से कभी-कभी लॉक भी करना पड़ जाता था। अभी कुछ दिनों पहले बापनू घर में ऐसी ही लड़की आयी थी। तब कोई नहीं जानता था कि ऐसा भी हो सकता है। कुछ दिन तक तो वह लड़की ठीक रही पर एक रात पता नहीं उसे क्या जुनून सवार हुआ कि आधी रात को वह बार-बार ऊपर टेरेस पर जाती और दौड़ती हुई नीचे आ जाती। इसी ऊहापोह में उसने उसी

रात छत से कूद कर आत्महत्या कर ली। उस की मौत ने सभी को आतंकित कर दिया था। कुछ महीने तो टैरेस बिल्कुल बंद कर दिया गया। जिसे चोरी छिपे जाते हुए देख भी लिया जाता तो उसे नियमों के उल्लंघन के लिए जबरदस्त हर्जाना भरना पड़ता।

उस के बाद एक नियम और बना। हॉस्टल की किसी समझदार लड़की को बापनू घर की लड़की के साथ रखा जाने लगा लेकिन धीरे-धीरे तंग आकर लड़कियों ने हंगामा शुरू कर दिया कि वो ऐसे मेंटल केस या एबनार्मल केस के साथ नहीं रहेंगी वरना उनका भी दिमाग खराब हो जायेगा।

मेरे साथ शुरू में हॉस्टल वार्डन ने यह चालाकी चली कि कमरे खाली न होने की वजह से मुझे सुमन राजदान के कमरे में पेइंगगैस्ट की जगह दे दी और यह विश्वास दिलाया कि सीट खाली होते ही वह मुझे दूसरे कमरे में भेज देंगी पर कुछ ही दिनों बाद सुमन राजदान को हॉस्टल की मानमर्यादा भंग करने के जुर्म में सीधे नारी कल्याण समिति में भेज दिया गया।

कुछ दिन अकेले और आराम से रहने के बाद मैंने सुना कि बापनू घर में कोई और नयी लड़की आ रही है। फिलहाल वह भी मेरे साथ रहेगी।

सचमुच वही लड़की आ टपकी और मेरे कमरे के दरवाजे से लग कर खड़ी हो गयी। मैं जीना उतर कर नीचे जाना ही चाहती थी कि अचानक उस की तंद्रा भंग हुई। “आप ही रहती हैं ना इस कमरे में?”

“हां,” मेरे सपाट से उत्तर में बड़ी बेरुखी थी। उसका सामान देख-देख कर मेरी तयारियां चढ़ रहीं थीं। एक टूटा हुआ बड़ा ट्रंक, सितार, तबला, राम, सीता, कृष्ण, हनुमान, एवं साईं बाबा के बड़े-बड़े कलैंडर फ्रेम किये हुए। एक आदमकद मूर्ति शंकर भगवान की। पहले पहल उसे देख कर ऐसा लगा जैसे वह यहां रहने नहीं बल्कि किसी मंदिर की स्थापना के लिए आयी है।

“मिसेज भुनभुनवाला ने मुझे आप के कमरे में रहने को कहा है।” मेरी ओर टकटकी बांधे उसने मुस्कराते हुए कहा।

“मैं अभी आती हूं। कह कर हॉस्टल वार्डन के पास भागी। सुना वार्डन तीन दिन की छुट्टी लेकर बाहर गई हुई हैं। उन की जगह उनकी असिस्टेंट काम कर रही थी। लड़कियों और कमरों का चार्ज उन्हीं के पास था।

मुझे देखते ही वह बोल उठी—भई! तुम्हारे कमरे में एक नया लरकी भेजा है। थोड़ा दिन तुम्हारे साथ रहेगी। यू डोट बरी। हम जल्दी उसे वापस भेज देगा। पढ़ा लिखा है बहुत। इंगलिश से एम. ए. किया है। संगीत शास्त्र सीखा है। बस तुरंत उसका नौकरी लग जायेगा फिर हम उसका छुट्टी कर देगा यहां से, प्लीज यू एडजस्ट विद हर। बेचारा बड़ा दुखी है। तुम थोड़ा दिन उसे अपने साथ रख लो। मुझे बड़ा खुशी होगा—वह एकदम मेरी मिन्नत पर उतर आयी थीं।

उनके कहने के बाद मैं अपने कमरे में लौट आयी। बड़ी रूखाई के साथ मुझे कहना पड़ा। “तुम रख लो अपना सामान अंदर।”

“थैंक यू—थैंक यू तुम्हारे साथ रह कर मुझे खुशी होगी। उसने जैसे कहीं आश्वस्त होकर कहा।

“तुम अपना सारा सामान एक तरफ जमा लो और अपनी इन मूर्तियों व तस्वीरों को सामने किचन वाली शेल्फ में रख लो।” मैंने कहा। उसके सामान को देख कर मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे धीरे-धीरे वह कमरे में अपना तागभाम फैला लेगी।

“देखो डियर और सामान तुम चाहे मर्जी जहां रखवो दो मुझे कोई गिला नहीं पर मेरे भगवान जी के साथ अनर्थ मत करना। कभी मौका मिलेगा तो तुम्हें बताऊंगी कि मेरी उबड़-खाबड़ जिंदगी में इनका कितना योगदान है। इनके सिवा कुछ भी तो नहीं बचा मेरे पास। मात्र इन का ही सहारा है। इन की प्रेरणा से मैं सदा आगे बढ़ती रही हूं। जब-जब मेरा मन डूबने लगता तब-तब इन्होंने मुझे नयी राह दिखायी। इनका मेरा साथ बहुत पुराना है। ये मेरे दोस्त हैं। मातापिता यानी सब कुछ ही हैं। सो प्लीज मेरे भगवान पर रहम करना। माना कमरा तुम्हारा है पर जब तक मैं यहां हूं इन्हें सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए।” कहते-कहते उसकी आवाज में तल्ली आ गई थी।

मैं हैरान थी कि इस कमरे में कैसी-कैसी अजीब लड़कियां आती हैं।

जल्दी-जल्दी उसने सारा सामान इधर-उधर जमाया और आप पलंग पर मूर्ति की तरफ मुंह करके सितार पर राग अलापने लगी।

जैसे ही मैंने सितार बजने की आवाज सुनी मेरे मन की सारी कुढ़न एक क्षण में दूर हो गयी। मैं कान लगाकर संगीत का आनंद लेने लगी। पर वह थोड़ी सी देर बजा कर चुप हो गयी और ध्यानामन होकर मूर्ति की ओर देखने लगी। मेरी नजर एकटक उस पर टिकी रह गई। मुझे लगा जैसे वह ईश्वर के साक्षात दर्शन कर रही थी। बेजान मूर्ति की आंखों में अपनी आंखें गड़ाए अस्फुट स्वरों में कुछ बुदबुदा रही है, कभी हंसना कभी मुंह सिकोड़ लेना तो कभी मौन होकर इसरार—इकरार करती सी मुखमुद्रा मुझे उस के पागल होने का भ्रम हुआ।

एकाएक उसे देख कर मुझे डर लगने लगा। मैं उसे इस समय बिल्कुल एक बदले हुए रूप में देख रही थी। कुछ देर ऐसा करते रहने के बाद उसने एक बार सितार के सारे तार जोर से झनझना कर सितार एक तरफ रख दिया और वहां से उठ गयी।

मैंने उसे उठते देख कर कहा—तुम बहुत अच्छा गाती बजाती हो।

“सच,” वह चिहंक उठी. “इस का मतलब तुम्हें भी संगीत के सुरों से प्यार है।”

“सच मुझे बहुत खुशी हुई है कि कोई तो पारखी मिला, संगीत मेरी जान है। अब तुम डिस्टर्ब नहीं होगी वरना मुझे डर था कि कहीं तुम ये न कहने लगो कि मेरे कमरे में कोई सितार-बितार नहीं बजेगा।” भावुक हो कर वह अपनी मूर्ति को बेतहाशा चूमने लगी।

“इस मूर्ति में क्या है। इसे देख कर तुम पागलों जैसी हरकत करती हो यानी कभी हंसती हो कभी रोती हो ?” मैंने पूछा। “तुम्हें जरूर पागलपन लगता होगा। प्यार अगर पागलपन है तो मैं पागल सही। तुमने शायद किसी से प्यार नहीं किया होगा। करती तो स्वयं ही पागलपन की स्थिति तक पहुंच जाती।” उसने कहा।

“अच्छा तो तुम आधुनिक मीराबाई हो।” मैंने उसे मजाक में छेड़ा।

तुम कुछ भी कह लो अपन बस प्यार करते हैं। क्या तुमने अभी देखा नहीं कि मूर्ति मुझे देख कर मुस्करा रही थी, बातें कर रही थी। अक्सर मेरे साथ ऐसा होता है जब कभी भगवान देर से दर्शन देते हैं तो मैं उनसे ऊब जाती हूं पर उनकी एक झलक से मेरा सारा गुस्सा पानी हो जाता है और उनसे साक्षात्कार की मुद्रा में मैं पागल हो उठती हूं।

उसकी बातों से, उस के हाव भाव से मुझे लगा जैसे सच-मुच उसका इस मूर्ति से कोई गहरा रिश्ता है। एक पढ़ी लिखी नये जमाने की लड़की को पत्थर की मूर्ति पर ऐसी गहन आस्था ? ये सब पागलपन नहीं तो और क्या है पर उससे कौन बहस करे। वह कह रही थी “तुम एक टुक उसे निहारो, एक क्षण सारे दुख दर्द भूल जाओगी। अगर उससे प्यार करती हो तो दूसरा कोई जहान तुम्हें याद न रहेगा, प्यार करने वाला एकाग्रता मांगता है। तन्मय हो जाना मांगता है उसका प्रेमी उसके अस्तित्व में विलीन हो जाए। वह उस में गुम हो जाए”—वह आंखें बंद कर के कहे जा रही थी।

उस के भाषण से थोड़ी देर में मैं भी बौरा गयी थी। मैंने मूर्ति में तल्लीन हो जाने की भरसक कोशिश की। पर मुझे कहीं कुछ नहीं दिखाई दिया। एकाएक मुझे उस पर ही गुस्सा आया—‘स्टुपिड’ ! झल्ला कर मैं कमरे से बाहर हो गयी।

देखते-देखते उसने कमरे को पूरा मन्दिर बना लिया था। बाहर निकल कर मैंने सारी दास्तान लड़कियों को कह सुनायी। उन्हें भी उस लड़की में दिलचस्पी हुई. डिनर पर जाते हुए लड़कियां उसके कमरे में घुस गयीं। उन्होंने बात करने का बहाना ढूँढ कर पूछा—“तुम अपना डिनर कहां लोगी ?”

अभी तो मेरे खाने की कोई व्यवस्था नहीं हुई है पर मैसेज भुनभुनवाला ने कहा था कि आज मैं लड़कियों के साथ ही डिनर कर लूं फिर कल से सारी व्यवस्था अलग कर दी जायेगी।

मुझे किचन का सामान और राशन वगैरह मिल जायेगा। इसलिए आज मैं वैसे भी खाना नहीं खाऊंगी। मेरे भगवान जी सुबह से भूखे पड़े हैं। पहले उन्हें कुछ खिलाऊंगी, फिर आप खाऊंगी।

“तुम जरूर सनकी हो ? क्या रात भर भूखी बैठी रहोगी ?” मुझे उस पर गुस्सा आया।

“सनकी सही, हर आदमी को कोई न कोई सनक होनी ही चाहिए उसने हंसते हुए कहा, मैंने सोचा था कि मेरी बात पर वह बिफर उठेगी पर उसने यूँ ही हंस कर उड़ा दिया था उसे हम सब उसे वहीं छोड़ खाने के लिए चले गये।

अगले दिन उसने सुबह उठ कर अपना कमरा साफ किया, पानी से धोया, पोंछा लगाया, फिर हलवा बना कर भगवान को भोग चढ़ाया। उसके खिलाने का अंदाज भी निराला था। वह पहले उन फ्रेम की गयी तस्वीरों के मुंह पर हलवा लगाती फिर जूठन अपने मुंह में डाल कर कहती “कितना मजा आता है भगवान का जूठन खाने में ?”

लड़कियां खाना खा कर लौटीं तो उसने बड़े श्रद्धाभाव से उन्हें प्रसाद दिया। प्रसाद उन्होंने ले तो लिया लेकिन बाहर जा कर डस्टबिन में फेंक दिया यह देख कर उसे बहुत तकलीफ हुई। उसने कानों और हाथों को लगा कर फँसला किया कि अब वह किसी को प्रसाद नहीं देगी।

रात जब वह अपना बिस्तर विछाने लगी तो मैंने देखा उस के पास पूरा बिस्तर नहीं है और उसने मुझ से कुछ मांगा भी नहीं। जो कुछ उसके पास था उसी में सो रही।

उसे सोते देख पता नहीं क्यों उस के प्रति मेरे मन में बड़ी सहानुभूति सी उमड़ने लगी। मैं उस को ले कर सोचने लगी जाने कहां से आयी है, किन हालातों से गुजर रही है और अब है कि चैन की नींद सो रही है—पर उसकी नींद थी कि क्या—जरा सी आहट से वह चौंक उठती—यही नहीं चिल्ला कर उठ बैठती—कौन हो ? कौन है ? ओ माई गाड जाने क्या क्या बड़बड़ाती आसपास किसी को न पा कर फिर उसी अंदाज में सो जाती। उसके इस तरह रह-रह कर चीख उठने से मैं भलीभांति समझ पा रही थी कि वह किही भयंकर मुसीबतों का सामना करते हुए यहां तक पहुंची है। यहां तक कि निद्रावस्था में भी उसके चेहरे पर आने जाने वाले भावों को’ को देख कर दहशत सी होती थी। कभी वह एक दम सिकुड़ जाती तो कभी एक-दम खिलखिलाकर हंसती जाग पड़ती। ओ गाड मैंने बहुत बुरा सपना देखा। भगवान मुझे बचा ले—ये शब्द तो जैसे हमेशा उसकी जुबान पर लिखे रहते।

उजाला होने से पूर्व वह उठ बैठी। मुझे देर से उठने की आदत थी। उठते ही उसने कमरे की सफाई शुरू कर दी।

पहले उसने झाड़ू लगाया, सारे कमरे की धूल झाड़ी और फिर बाथरूम से पावी ला ला कर उसने अच्छी तरह फर्श धोया।

उसके बाद नहा धो कर सितार लेकर अपने मन्दिर के सामने बैठ गयी। सितार के सुर से मेरी नींद में खलल पड़ी। मेरे साथ ही साथ और तीन चार लड़कियों की भी नींद उचट गयी। उन्होंने भाँक कर मेरे कमरे में देखा कि वह बड़ी तन्मय होकर भगवान के भजन में लीन थी।

“बंद करो ये सितार वितार”—बन्दना नींद से उठ कर बेतहाशा झुल्लाई हुई थी।

वह बेचारी चौंक कर घबराती हुई सितार छोड़ उठ खड़ी हुई। “सॉरी—आई एम सॉरी—वह फिर बोली।

क्या तुम्हें लड़कियों के बीच रहने का शऊर नहीं है?”

“क्या तुम पहली बार हॉस्टल आयी हो?”

“ऐसे तुम हमको डिस्टर्व नहीं कर सकतीं। सितार बजाना है तो दिन में बजाओ, जब हम सब लोग दफ्तर में होते हैं या बाहर ले जा कर बजाओ—रात बिरात या सुबह यहाँ सितार नहीं बजेगा वरना हम वार्डन से शिकायत कर देगे। वह इतनी सख्त है कि तुम्हें रहने नहीं देगी। यहाँ कोई मनमानी नहीं चलेगी। सब को एक दूसरे की सुविधा का ध्यान रखना होता है समझीं।” आमना ने उसे काफी गुस्से में भर कर कहा—।

“ठीक है ठीक है—मैं कसम खाती हूँ आज से सितार को हाथ नहीं लगाऊँगी। बस आप लोग खुश रहिए—” उसने सब से हाथ जोड़ कर कहा—

“क्या तुम डिस्टर्व नहीं हुई।” लड़कियों ने मुझ से मुखातिब होकर पूछा।

“मैं अपने बेड पर बैठी यह सब देख रही थी। मुझे न कुछ कहते बना न उसका विरोध करते न ही किसी का पक्ष लेते बना। इसके बाद सब अपने अपने कमरों में चली गयीं।

उनके जाते ही उसने एक गहरी सांस ली और अपने आप कुछ बड़बड़ाने लगी—ओह! यहाँ भी चैन से नहीं जी सकूँगी। मैंने तो सोचा है कि यहाँ तो सब कुछ करने की आजादी होगी पर यहाँ तो लड़कियाँ ही दुश्मन बन रही हैं।

“तुम कहाँ से आयी हो।” मैंने बड़ी नरमी से उससे पूछा।

“क्यों तुम्हें क्या करना है जान कर।” व्यंगात्मक लहजे में वह बोली।

“यही कि इच्छा होती है तुम्हारे बारे में जानूँ, तुम कौन हो? कहाँ से आई हो? आखिर तुम अब मेरी रूम पार्टनर हो इसलिए तुमसे मुझे हमदर्दी नहीं होगी तो किससे होगी?”

“मैं अपने बारे में कुछ नहीं बताऊँगी। मैं अकेले ही ठीक हूँ। मुझे किसी की हमदर्दी नहीं चाहिए। यहाँ लड़कियों को एक दूसरे पर हंसना आता है। और कुछ नहीं? तुम क्यों मेरे बारे में जानने को उत्सुक हो। मैंने तो कुछ नहीं पूछा तुम्हारे बारे में। मेरे साथ मेरा सब से बड़ा दोस्त भगवान मेरे साथ है। आदमी की दोस्ती से मेरा विश्वास उठ गया है। प्लीज मुझे

मेरे हाल पर छोड़ दो, मुझे कुछ न पूछो। मैं किसी को कुछ नहीं बताऊँगी।”

सचमुच उसने किसी को कुछ नहीं बताया पर मैं थी कि हर पल उसको जान लेना चाहती थी। दो तीन रातें वह लगा-तार चौंक चौंक कर उठती रही, चीखती रही, उसकी चीखों ने मेरे अन्दर भी डर सा पैदा कर दिया। मजबूर होकर एक शाम मैं गुस्से में दनदनाती वार्डन के कमरे में जा पहुँची।

मैडम मैं रंजना के साथ कमरे में नहीं सोऊँगी। मुझे दूसरे कमरे में सोने की इजाजत दे दें। वह रात को चिल्लाती है तो मुझे डर लगता है।” मैंने वार्डन से स्पष्ट कह दिया कि मैं उसके साथ कमरे में नहीं सोऊँगी। रात बिरात चौंककर जाग उठने से उसकी अजीबोगरीब हरकतों से डर लगता है।

“देखो अगर हर लड़की उससे नफरत करेगा तो बेटा काम कैसे चलेगा? उसके पीछे कोई देखभाल करने वाला भी तो होना चाहिए। मैं समझता हूँ तुम काफी समझदार हो फिर यहाँ आकर ऐडजस्टमेंट जरूरी होता है। कौपरेशन की भावना होनी चाहिए।” वार्डन ने कहा, “पर हर बार मुझे ही बलि का बकरा क्यों बनाया जाता है सबके हिस्से का तनाव मुझे ही भेलना पड़ता है वैसे कोई बात तो नहीं है पर मैडम मुझे डर बहुत लगता है।” मैं उन्हें समझाने का प्रयास करती हूँ।

अजीब किस्म का लड़की लोग हो तुम। मां बाप से इतनी दूर रहता है, उन्हें छोड़ कर अकेला अकेला रहता है और फिर भी कहता है कि डर लगता—छी—छी—छी। बड़ा शरम की बात है। जाओ अपने रूम में अपना ब्रेन वाश करो। थोरा दिन की बात है उसका जल्दी ही कहीं नौकरी लग जायेगा—फिर हम उसे अपने हॉस्टल में नहीं रखेगा, बस चलता कर देगा। बापनू घर का बस यही ऐम है। लड़की अच्छा तरह सैटिल हो जाए। अगर तो शादी करना चाहता है तो हम उसका शादी बना देगा बस समझो तब अपना रिसर्पोसीबिलिटी खत्म—वार्डन मेरी पीठ थपथपा कर मेरा हौसला बढ़ाने का उपक्रम करती हुई मेरे साथ बाहर तक आ जाती है। शाबास—जाओ। ट्राई टू ग्रैंडरस्टैंड हर, वन डे आई बिल टेल यू हर स्टोरी। तब तुम रियलाइज करेगा कितना पुअर गर्ल है रंजना—

इतना सब कुछ सुन कर मैं लौट आयी। मुझे मालूम था कि वार्डन बापनू घर की लड़कियों के बारे में तो सोच कर परेशान रह सकती है लेकिन जो ठीक ठाक है उनके बारे में नहीं। जब कि मुझे लगने लगा था कि यदि अधिक दिनों तक इनके बीच रही तो मैं एवनार्मल हो जाऊँगी।

रंजना की हरकतें मेरे लिए दिन प्रतिदिन चिन्ता का विषय बनती जा रही थीं। लावारिसों की तरह मैं रोज रात को अपना बिस्तर उठाकर निकलती और किसी के कमरे में जाकर सो रहती।

कुछ दिनों बाद उसे मिसेज सबरवाल की मदद से नौकरी मिल गयी। बालभवन में बच्चों को संगीत सिखाने और कुछ पढ़ाने लिखाने का काम उसे सौंपा गया था।

सुबह उठ कर वह ईश्वर का भजन करती, उसके पश्चात् चाय नाश्ता ले कर बालभवन चली जाती। बच्चों के संग उस का दिन कट जाता। शाम हंसती-हंसाती वह हॉस्टल लौट आती। मंदिर में दीपक जलाने का क्रम उसका चलता रहा। इस नौकरी ने या कि छोटे-छोटे बच्चों की मोहब्बत ने रंजना के अन्दर बहुत से परिवर्तन ला दिये। पहले वह अपनी पिछली जिंदगी के तानों बानों में उलझी रहती थी, उसका सोना, जागना, बड़बड़ाना चीखना-चिल्लाना एक नहीं हजार बार मुझ में दहशत सी भर देता था किंतु अब इस मनःस्थिति से उसे छुटकारा मिल रहा था। अपने स्वास्थ्य और रंगरूप को ले कर वह सजग रहने लगी। वेशभूषा में विविधता आ गयी थी और सबसे बड़ी बात कि उसकी अपनी हीनता का बोध खत्म होने लगा था। कभी वह अच्छे मूड में होती तो मुझसे खुलने लगती।

एक शाम वह मेरे साथ बैठी बैठते ही बाली—“मैं किसी हिन्दी पत्रिका के लिए अनुवाद का काम कर रही हूं और उसका सम्पादक एक रात के लिए मुझे डिटेल करना चाहता है।”

“क्यों?” मैं भौंचक्की सी रह गयी।

“बस मौजमस्ती के लिए—” हंसते हुए उसने उतनी ही लापरवाही से कहा।

“तुम्हें हो क्या गया है रंजना। एक तरफ तू भगवान की पुजारिन और फिर तेरे मुंह से ऐसी बातें सुन कर मुझे आश्चर्य हो रहा है आज कैसी बातें कर रही है तू?”

“क्या मैं तफरीह के लिए नहीं जा सकती?” उसने सच कहा या झूठ मैं अंदाजा नहीं लगा पा रही थी।

“मैं क्या जवाब दूं। तुम मुझसे बेहतर समझ सकती हो?” मैंने कहा। क्या तुम्हारा जाने का इरादा है? मैं पूछे बिना नहीं रही।

“खैर जाऊंगी तो जरूर। पर रात को रहूं न रहूं यह तो वक्त बतायेगा।” कह कर उसने अपने दातों तले होठों का एक कोना काट लिया था और एक अदा से बालों को झटक कर वह मेरे सामने से उठ गयी थी।

उसके बाद इस विषय पर उसकी और मेरी कोई बातचीत नहीं हुई। यह उसकी मर्जी, मूड, दिलो दिमाग पर निर्भर था कि जब चाहती तो मुझे अपना राजदार बना लेती और जब नहीं चाहती तो साफ मुकर जाती।

एक दिन मुझे आभास हुआ कि रंजना का कमरा जो सामान से खचाखच भरा रहता था अब कम से कम होता जा रहा है, रोज एक चीज गायब होती। अपना सामान यहां से कब और कैसे ले जाती है इस की किसी को भनक भी नहीं थी।

एक बिस्तरा, एक संदूक और खाने के बर्तनों के सिवाय

अब कमरे में कुछ बाकी नहीं रह गया। दीवार पर उसके इष्ट देवी देवताओं की तस्वीरें भी एक दो रह गयी थीं।

“तुम्हारा सामान कहां गया रंजना” एक दिन मैं उससे पूछ बैठी।

“दान कर दिया”।

“कैसे।”

“मन्दिर वाले लोगों को।”

“मगर क्यों?”

“आदमी को कभी-कभी दान-दक्षिणा भी करनी चाहिए। अन्तिम शब्द कहते कहते वह अपने होठों में दबी मुस्कराहट को छिपा नहीं पाती थी और उसकी यही मुस्कराहट मेरे लिए एक पहेली या व्यंग बन कर रह जाती। मैं जितना ही उसे समझना चाहती वह मुझसे दूर भागती जाती। उसके निरन्तर भागते रहने का प्रयोजन मैं नहीं समझ पा रही थी।

इस बीच जब मैं तीन दिन की छुट्टी बिता कर लौटी तो पता चला कि अचानक मेरे पीछे रंजना यहां से भाग गयी है और अपने पीछे लड़कियों के मन में असंख्य शंकाएं, अविश्वास, और बदनामी के छोटे छोड़े गयी है। उन्होंने मुझे बताया कि जिस रात रंजना भागी है कुछ लड़कों का गिरोह उस के साथ था। रंजना के भागते ही असंख्य पदचापों से चौकीदारों की नौद खुल गयी थी। उन्होंने तेजी से उसका पीछा किया। मगर हॉस्टल की दीवार फांदते ही उन सब लड़कों ने पथराव शुरू कर दिया था जिस से चौकीदार रंजना को बचा नहीं सके। उल्टे चोट खा कर वहीं चित्त हो गये। बाद में बहुत खोजबीन करने के बाद हॉस्टल के बाहर एक पनवाड़ी की दुकान से मालूम हुआ कि रंजना ने किसी भुग्गी भोपड़ी वाले इलाके में अपने रहने के लिए किराये पर ठिकाना बना लिया है। आजकल भी वह वहीं रहती है।

मैंने सोचा रंजना के एकाएक खो जाने से शायद उसकी कहानी अब खत्म हो गयी है पर तभी पंद्रह-बीस दिन बाद आफिस की डाक से मुझे एक लंबा-चौड़ा खत मिला जिसे व्यक्तिगत रूप से रंजना ने मुझे लिखा था।

—मेरी दोस्त बनाम दुश्मन,

मुझे कभी भूल नहीं सकोगी इस आशा में भी मेरा खत खुलने से पहले तुम्हें चौंकायेगा जरूर, मगर धीरे-धीरे एक-एक शब्द व वाक्य की सीमा पार करते हुए वस्तु स्थिति खुद ब खुद तुम्हारी समझ में आ जायेगी कि मैं क्या थी और क्यों तुम्हारे लिए जान कर भी अनजान बनी रही। मेरी और तुम्हारी भलाई इसी बात में होगी कि इस फैसले को तुम खुद तक सीमित रखोगी और न भी रख सको तो मैं अब तुम्हें नहीं मिलूंगी। वहां भी नहीं जहां से खत लिख रही हूं और रही नेकनामी और बदनामी की बात तो उससे भी कहीं अब परे चली गयी है। सौ फैसला तुम्ही पर—हां कभी सुखी हो सकी

तो तुम तक पहुंचने की चेष्टा करूंगी अन्यथा हम जैसे कीड़े-मकोड़े मरते रहते हैं और जिंदा होते रहते हैं।

अगर मैं कहूं कि मैं एक बहुत बड़ी संगीतकार की बेटी हूं और कलकत्ता में मेरा घर है तो हैरान न होना। मेरी मां और पिताजी की कभी नहीं बनी। क्योंकि मेरे पिता रसिक प्रकृति के पुरुष थे। संगीत के बहाने लड़कियां उन के इर्द गिर्द होतीं थीं। पहले पहल तो मां कलाकार के इस व्यवसाय को सहज हो कर लेती रही पर सिर से पानी उतरते ही वह अपने अस्तित्व के प्रति चैतन्य हुई। पिता जिस दिन दो लड़कियों को ले कर भागे, मां ने मेरी उपस्थिति को घर में बोझ मान कर मुझसे उन्हें दूँड लाने को कहा। पिता मुझे प्यार करते थे और जहां-जहां वह पानी पीने जाते मैं उस उस घाट से परिचित थी।

इस मां से पीछा छड़ाने के लिए मेरे पिता मेरे लिए नयी मां ढूँढ रहे थे और यदा कदा मुझे इसलिए साथ रखते कि इस में मेरी रजामंदी है। इस मां से वे नयी मायें मुझे अधिक प्यार करती थीं, तब ऐसा महसूस होता था पर ऐन वक्त पिताजी कहां गये मुझे भी नहीं मालूम था। मैं कहां-कहां भटकती यही सोच कर बहुत देर बस स्टॉप पर खड़ी रही। रात गये मुझे बस मिली। मैं चढ़ी तो पैसे नहीं थे। खचाखच बस भरी जान कर मैं सब से नजरें बचाती आगे चली गयी पर उसमें जा कर ऐसा लगा जैसे शहर के बदमाश और लफंगे यहां इकट्ठा हों। ढेर सारे आदमियों के बीच खड़ी मैं गुमसुम सी डर रही थी कि कभी हाथ पर तो कभी जांघ पर, चिकोटी काटने का सा अहसास मुझे हुआ। फिर तो जी मेरी चुप्पी और उनकी बेरहमी बढ़ती रही। कभी तो इतनी जोर से कोई हाथ या पांव को मेरे बदन से रगड़ देता कि मैं चीत्कार कर उठती। कुछ देर तो मुसीबत की मारी सहती रही। जुबान तो जैसे घर से निकलने के बाद ही बंद हो गयी थी पर फिर हिम्मत जुटा कर मैंने ड्राइवर से कहा मुझे जी० बी० रोड पर उतरना है तो उसने रहम खा कर मुझे गाड़ी के बोनट पर बिठा दिया। भीड़ में मुझे पता नहीं चला कि मुझे कहां उतरना है। वह दुष्ट भी मुझे सांत्वना देता रहा। कुछ देर में एक-एक कर के सभी उतरते गये और गाड़ी खाली हो गयी। फिर गाड़ी को किसी सुनसान जगह ले जा कर ड्राइवर और कंडक्टर ने मनमाने ढंग से बस में मुझे सताया। मेरे साथ अनर्थ कर के मेरे हाथ में कुछ रुपये थमा कर गाड़ी सहित रफूचक कर हो गये। वह रात मैंने भूखे पेट फुटपाथ पर गुजारी।

जिस औरत का घर मैंने देखा था, एक गंदी बस्ती में था। वहां से उठती बुरी नजरों से भी मैं खुद को भी बचा नहीं पायी। दरवाजे तक जाकर देखा तो वहां ताला पड़ा था। पता चला कि उसे लेकर पिताजी बंगलौर चले गये। रोती-कलपती लौटी तो मेरे लिए घर के दरवाजे बंद, रात को चुपचाप दीवार फांद कर घर में घुसी तो मां पूरी तरह से

बहशी हो चुकी थी। सारा हाल उसे कह सुनाया फिर भी पिता के जुल्मों का बदला वह मुझे से लेना चाहती थी। सारा दिन भूखे-प्यासे उसने मुझे ऊपर कोठरी में बंद रखा। पड़ोस का एक लड़का मेरा शुभचिंतक था। मौका पा कर मैं एक दिन उसके साथ भाग निकली। उसने भी मेरे जिस्म के साथ खिलवाड़ किया। बैठे ठाले लोग मेरे शरीर से वेश्या की गंध पा रहे थे। फिर अचानक एक राह चलती औरत के मैंने पैर पकड़ लिए और रोते-रोते अपना सारा हाल कह सुनाया। इत्तफाक से वह मेरे पिताजी माता जी के नाम से परिचित थी। उसने अपनी बुआ की मदद से एक समाज सेविका के पास मुझे पहुंचाया। उन्होंने कुछ दिन मुझे अपने पास रखा और भविष्य की तमाम चिंताओं से मुझे मानसिक तौर पर मुक्ति दिला कर इस योग्य बनाया कि मैं “बापनू” घर में प्रवेश पा सकूं। वह पुजारिन थी। पूजा करती थी। मेरा कमजोर टूटा हुआ दिल भी ईश्वर की शरण में जा लगा। मैं रोज मंदिर जाने लगी। संगीत सीखने लगी जिस के संस्कार मुझ में मौजूद थे और एक दिन अपने इस स्थायी आवास में पहुंची। यहां रह कर लगा जैसे मैं तुम लड़कियों के बीच में रहने काबिल नहीं। तुम सब मुझे फर्क की नजरों से देखती हो... मेरा भगवान, मेरा संगीत, मेरी अदम्य इच्छाएं जैसे बाधक हों। मैं काम भी करने लगूंगी तो तुम लोग मुझे इस मानसिक यातना से उबरने नहीं दोगी। मेंटल केस होते-होते मैंने खुद को बचाया है और वह तुम्हारा अखबार वाला संपादक जो एक रात के लिए मुझे डिटेल करना चाहता था मैं गयी थी उसके पास मगर साहस जुटाकर मैंने उसके मुंह पर थूक दिया था और अनुवाद के चौथड़े-चौथड़े कर उस के कमरे में बिखेर आयी थी।

और अंत में मुझ बदनसीब की ओर से एक सीख तुम्हारे लिए “मेरी दोस्त बस ये समझ लो कि अगर एक बार तुम अपना शरीर किसी एक को देती हो तो इस का मतलब है तुम्हारा हमेशा-हमेशा के लिए बंध जाना। फिर तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम कहीं भी रहो तुम्हारा शरीर नोंचा-खरोचा जायेगा। कम से कम आज अगर मेरे पास कुछ नहीं भी है तो क्या? जब मैं थक कर अपने बिस्तर पर लेटती हूं तो उस वक्त मेरे शरीर को रोंदने वाला कोई नहीं होता। मेरे लिए यह सुख की स्थिति है। एक तरफ ओढ़ा हुआ कौमार्य और दूसरी तरफ तिलतिल भंग होता हुआ कौमार्य। कितनी बड़ी वेदना होती है यौवन की दहलीज पर कदम रखती हुई अविवाहित लड़की की? क्या तुम मेरे असामान्य व्यवहार में इसे कहीं पा सकोगी। बस ऐसी ही बेसबब जिंदगी जी है मैं ने। तुम तो सिवाय आत्महत्या के कुछ और सोच भी नहीं सकती। औरत के रूप में अब चाहे मुझे वेश्या कह लो—या पतिता—एक बार फिर फैसला तुम्हीं पर—

तुम्हारी रंजना □

138-बी, एल० आई० जी० राजौरी गार्डन (एक्स.)

नयी दिल्ली-27

कोटा का दशहरा

धूमिल होती परम्पराएं

★ प्रभात कुमार सिंघल

कल-कल छल-छल बहने वाली चम्बल नदी की पावन वेगवती धारा के किनारे स्थित राजस्थान के औद्योगिक नगर कोटा में शहर का एक ऐसा स्थान है जो शहर के मध्य में होकर भी वर्ष भर सूना रहता है। इसी जगह हैं वो तीन गोलाकार लगभग 10 फीट एवं 8 फीट ऊंचे खम्बे, एक चकोर चबूतरे पर बने हुए जहां कभी लंकापुरी के अवशेष थे तथा जिन पर लंकाधिपति रावण एवं उसके भाईयों के पुतले बनाये जाते थे और बांस की खप्पचों से लंका का निर्माण किया जाता था। इस स्थान पर जहां रावण वध किया जाता था, आज भव्य मेला लगभग 20 दिन चलता है। यह 15वीं शताब्दी से चला आ रहा है। दशहरा और शक्ति पर्व के रूप में मनाया जाने वाला यह सम्भवतः भारत का सबसे प्राचीन मेला है। वैसे तो देश के उत्तर में रामलीला, असम व बिहार के पश्चिमी हिस्सों में दुर्गापूजा, बंगाल में दुर्गापूजा, पंजाब व बिहार के पूर्वी व मध्यवर्ती भागों में विजय दशमी तथा मैसूर और कुल्लू के दशहरे की अपनी शान है। परन्तु व्यवस्थित रूप में लगभग 20 दिन तक कोटा में मनाये जाने वाले दशहरे उत्सव की परम्परा प्राचीन है।

इन्द्रधनुषी अतीत :

कोटा जो हाड़ौती प्रदेश का एक हिस्सा है में मनाये जाने वाले दशहरे मेले का अतीत इन्द्रधनुषी रंगों में रंगा है। प्राचीन परम्परा के नाम से आंखों में एक ऐसा दृश्य तैरने लगता है जिसमें राजा है, सवारी है, जुलूस है, तोपों की दनदनाहट हैं। वास्तव में यहीं कुछ मिल कर एक सतरंगा गौरवमयी अतीत हमारे सामने आता है जो आज युग एवं मान्यताओं के बदलने से धूमिल हो गया।

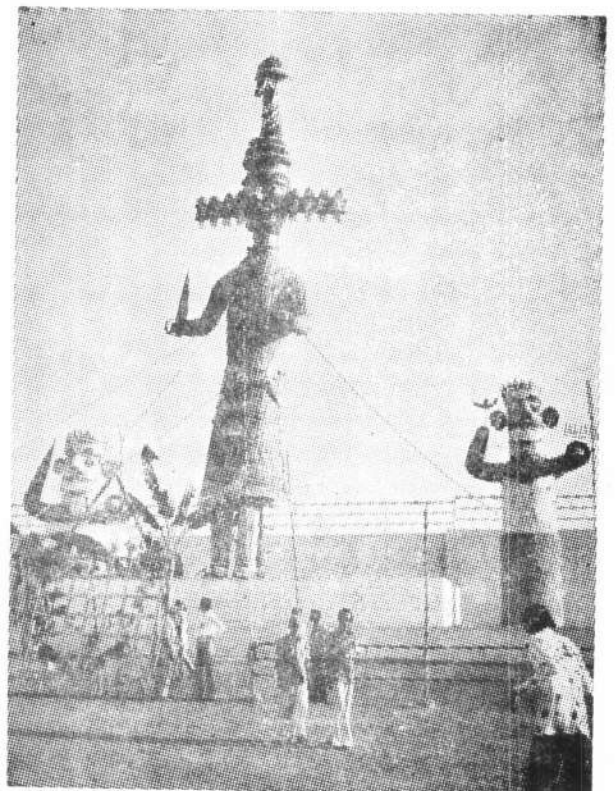
यहां के शासक हाड़ा होने से यह प्रदेश हाड़ौती कहलाता है। ये शासक राजपूत थे जो चौहान राजपूतों से अपना सम्बन्ध मान कर अम्बिका, शाकम्भरी और आशापुरा के नाम से कुलदेवी के रूप में शक्ति उपासना करते आये हैं। सन् 1579 ई० में कोटा राज्य की स्वतन्त्र स्थापना हुई और कोटा के प्रथम स्वतन्त्र शासक रावमाधो सिंह ने कोटा में भीलवाड़ी पोल (किशोर पुरा दरवाजा) के बाहर लंकापुरी का निर्माण कराया तथा मिट्टी का रावण बना कर उसके वध की पूर्वजों की परम्परा को प्रारम्भ रखा। सर्व प्रथम रावण वध का श्रीगणेश यहां 15वीं शताब्दी राव नारायणदास ने मालवे के सुल्तान महमूद पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में किया था।

समय-समय पर रावण वध की परम्पराओं में इन्द्रधनुषी रंगों का समावेश किया गया। महाराव उम्मेद सिंह द्वितीय ने रावण वध को आकर्षक बनाने के लिए मेले की परम्परा कायम की। जो सन् 1895 से नगर परिषद् द्वारा आयोजित किया जाने लगा और आज तक नगर परिषद् इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर रही है।

रावण वध की परम्परा 1947 तक रियासत के राजस्थान में विलीनीकरण तक चलती रही।

ऐसे होता था रावण वध

दशहरा पर्व का प्रारम्भ प्रायः नवरात्रि के प्रथम दिवस से हो जाता था। ब्राह्मणों को कोटा क्षेत्र के प्रमुख मन्दिरों में पूजा के लिये भेजा जाता था। पंचमी को महाराव स्वयं अपने बन्धु-बाधवों सहित पूजा हेतु मन्दिर जाते थे। छटी के दिन गढ़ में श्राद्ध की रस्म पूरी की जाती थी। सप्तमी के दिन करसीमाता एवं काल भैरव की पूजा हेतु नाव में सवार हो चम्बल के उस पार जाते थे। नदी पार कर पालकी में बैठ कर लवाज के



साथ देवी पूजन को जाते थे। इसे करणी माता सवारी के नाम से भी उस समय कहा जाता था। अष्टमी को हवन किया जाता था। नवमी को आशापुरी देवी की सवारी का आयोजन होता था। इसे खाडा की सवारी के नाम से जाना जाता था। इसमें महाराव के हाथी के आगे दुशाले से सजी सफेद गाय चलती थी।

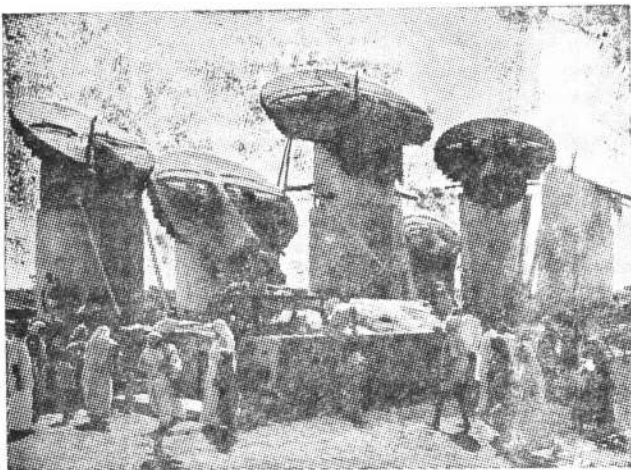
दशमी के दिन प्रातः भव्य सवारी निकल कर रंगबाड़ी मंदिर में जाती थी। वहां बाला जी के पूजन के पश्चात् दोपहर तक वापस महलों में लौट जाती थी। लौटने पर गढ़ के सामने रेत-वाली चौक पर मेला लगता था।

अब रावण वध के लिये शाम को गढ़ महल से सवारी निकलती थी। जिसमें महाराव हाथी पर छत्र यत्त सोने के सिंहासन पर बैठ कर रावण वध हेतु जाते थे। साथ में सेना नायकों व सेना की विविध टुकड़ियां घोड़ों पर व पैदल होते थे। नरेश के दोनों ओर चंवर डुलाने वाले चलते थे।

राजदरबार का यह काफिला परम्परागत राजशाही वेशभूषा में होता था। वहीं लम्बे-लम्बे चौगेनुमा कुर्ते, चूड़ीदार पायजामा, पगड़ी का अनोखा स्टाइल, कामदार जूतियां पहने चलता यह जुलूस राजसी आन-बान का प्रतीक होता था। जुलूस के खाना होने पर महल के बुर्ज एवं लंका क्षेत्र में रखी तोपों से गोले दागे जाते थे। यह जुलूस शहर के प्रमुख भागों से होकर रावण वध स्थल पर पहुंचता था।

यहां पर बनी लंकापुरी में द्वार पर तोरण होता था तथा रावण, मेघनाथ व कुम्भकरण के 20, 15 एवं 10 फीट ऊंचे पुतले बनाये जाते थे। रावण के इन पुतलों में करीब 80 मन लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। रावण के आकार की रोचकता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसकी नाक इतनी बड़ी होती थी कि एक बच्चा निकल जाय। रावण, मेघनाथ एवं कुम्भकरण के गलों में लोहे के रस्से बंधे रहते थे।

रावण वध की प्राचीन परम्परा, मिट्टी व बांस के पुतले



रावण दहन से पूर्व शस्त्र पूजा

रावण वध के लिये पहले शाही-हाथी तोरण गिराता था। फिर रावण व इसके भाइयों की गर्दन में बंधे रस्सों को खींच कर उनका सिर धड़ से अलग कर देता था। मिट्टी व बांस से बने पुतलों की गर्दन जैसे ही जमीन पर गिर जाती थी वैसे ही तोपों की दनदनाहट से युद्ध का दृश्य उपस्थित किया जाता था और जो प्रतीक होता था रावण पर विजय का।

बदलता परिवेश

कोटा की स्वतन्त्र रियासत का राजस्थान में समाविष्ट होने से एक युग का अन्त स्वतः ही हो गया। राजतन्त्र की परम्परायें प्रजातन्त्र के नये युग में नई आवश्यकताओं और नये संदर्भों में बदलाव मांगने लगीं। नयी मान्यताओं ने कोटा दशहरे के उत्सव की गौरवमयी रंग-बिरंगी प्रथाओं में आश्चर्यजनक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। वर्तमान दशहरा उत्सव परम्पराओं का बदलते मूल्यों में निर्वाह मात्र बन गया है।

परम्परानुसार गढ़ महल से भगवान ब्रजनाथ की पालकी शोभा यात्रा के रूप में निकलती है। लवाजमा आज भी साथ रहता है। लवाजमा स्वरूप की दृष्टि से बहुत ही कम रह गया है। रावण-स्थल पर पहुंच कर रावण व शस्त्र पूजा की जाती है। जुलूस में निकली भगवान राम की सवारी द्वारा नायक राम रावण के पुतलों की तरफ तीर चलाते हैं। एक तीर नाभी की ओर चला कर नीचे कागज व बांस के लगभग 70 फुट ऊंचे 10 शीश वाले पुतले में आग लगा दी जाती है 10 मिनट की आकर्षक आतिशबाजी की आवाज के मध्य पुतला जल उठता है। इसके पश्चात् करीब आधा घंटा रावण विजय की खुशी में रंगीन आतिशबाजी की जाती है। इस प्रकार रावण वध सम्पन्न हो जाता है।

रावण वध के साथ-साथ रामलीला एवं 15 दिनों तक विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम जन जीवन को ओतप्रोत रखते हैं। दिन में

दोपहर पश्चात् से रात्रि के मध्य काल तक यहां एक मीना बाजार सा लगा रहता है। नगर परिषद् ने पक्की दुकानें बना कर विभिन्न वस्तुओं के लिये पृथक-पृथक बाजार का निर्माण कर मेले को व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। एक विशाल रंगमंच लगभग तीस हजार दर्शकों के लिये नगर परिषद् की देन है। साथ ही बाजारों के मध्य पक्की सड़कें एवं पृथक प्रदर्शनी स्थल का निर्माण करा दिया गया है।

कोटा के दशहरे मेले की व्यवसायिक पहलू की सुदृढ़ता का आभास इसी बात से हो जाता है कि यहां न केवल राजस्थान वरन् दिल्ली, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, बिहार व मध्य प्रदेश से भी व्यापारी आकर अपना माल बेचते हैं। कपड़े, खिलौने, चूड़ी, जूते, बरतन, लोहा, मिष्ठान व फोटोग्राफी सभी का बाजार पृथक-पृथक लगता है।

प्रदर्शनी स्थल भी मेले का प्रमुख आकर्षण रहता है। मेले का एक ओर आकर्षण अब पशु मेला भी बन गया है। हर नस्ल के पशुओं की खरीद-फरोख्त मेले का प्रमुख पहलू है। मेले में लगभग दो हजार व्यवसायियों को नगर-परिषद् प्रतिवर्ष सुविधाएं उपलब्ध कराती है। साथ ही मेले को मनोरंजन, रोचक व आकर्षक बनाने का प्रयास हर वर्ष पिछले सालों से अधिक किया जाता है।

कोटा का दशहरा मेला जो भव्यता की दृष्टि से भारत में मसूर के पश्चात् दूसरे स्थानों पर आता है राजस्थान का प्रथम बड़ा मेला है। इसे राष्ट्रीय मेला घोषित कर अजमेर में ख्वाजा उर्स की तरह पर्यटन मेले का स्वरूप दिया जाये तो निश्चित रूप से पर्यटकों को कोटा के इस भव्य उत्सव से जुड़ने का अवसर मिलेगा।

के० आर० 520, मालरोड़ कोटा (राजस्थान) 324001

(पृष्ठ 52 का शेष)

हाइकु कविताओं के भी जापानी में अनुवाद किये हैं जो 'इन्दो' के अंकों में प्रकाशित हुए हैं। प्रो० दोई ने एक संक्षिप्त सी रचना की है जिसके जापानी-हिन्दी खण्ड में 23,000 और हिन्दी-जापानी खण्ड में 6,000 शब्द हैं। साथ ही 50 पृष्ठों के परिशिष्ट के रूप में जापानी भाषा में हिन्दी व्याकरण का परिचय है। 'हिन्दी-गो-न्यूमोन' (हिन्दी भाषा प्रवेश) शीर्षक से उनकी एक पुस्तक भी है। हिन्दी में उन्होंने 'जापानी भाषा प्रवेश' (निहोन गो न्यूमोन) पुस्तक लिखी है जो नागरी लिपि परिषद् दिल्ली से प्रकाशित हुई है। हिन्दी व्याकरण (इन्दो बुनतेन्) शीर्षक पुस्तक प्रो० एइजो सावा ने लिखी है, जिसके अंत में एक संक्षिप्त हिन्दी-जापानी शब्दावली भी दी गई है।

तुलना में भारत में जापानी भाषा का अध्ययन अभी आरम्भिक अवस्था में है। देश भर में केवल दिल्ली और

तुम नहीं हो

श्रीमदण्ण प्रभाकर

तुम नहीं हो

पर तुम्हारे जिस्म की खुशबू हवा में है।

अरगनी पर सूखती है वही साड़ी रोज की,

पलंग पर लेटी हुई छाया मधुर संकोच की।

पुस्तकों पर हैं तुम्हारी आंचलिक छुअनें,

और सांसों की खुली खुशबू हवा में है।

तुम नहीं हो।

नहा कर शबनम हुई तुम आइने में जड़ी हो,

क्यों वहां दीवान पर यों अकारण ही पड़ी हो ?

क्यों तुम्हारी दृष्टियां सहला रहीं मुझको

और केशों की घुली खुशबू हवा में है !

तुम नहीं हो !

7, किला रोड, भिड़, (म. प्र.)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालयों में जापानी के अध्यापन की समुचित व्यवस्था है पर दिल्ली विश्वविद्यालय में जापानी, चीनी विभाग का अंग है और वहां केवल डिप्लोमा स्तर तक जापानी का अध्यापन होता है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में जापानी अफ्रीकी-एशियाई विभाग का अंग है और अध्यापकों के अभाव के कारण पिछले पाँच वर्षों में तीन वर्ष नये विद्यार्थियों को प्रवेश नहीं दिया जा सका है। विश्वभारती विश्व-विद्यालय में जापानी का स्वतंत्र विभाग है पर वहां आरंभ से ही केवल एक ही अध्यापक रहा है और जापानी का अध्ययन अंश-कालिक पाठ्यक्रम से आगे नहीं बढ़ सका है। यह संपूर्ण स्थिति जापानी भाषा के प्रति भारत की उपेक्षा की परिचायक है। जापान में हिन्दी का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी भारतीयों से मिलकर उनसे हिन्दी में बात करना चाहते हैं भारतीय उनसे अंग्रेजी में बात करते हैं। यह आवश्यक है कि जापानी और हिन्दी साहित्य के बीच अधिक से अधिक परस्पर आदान-प्रदान हो। यह आदान-प्रदान सीधा जापानी और हिन्दी भाषाओं से हो, अंग्रेजी के माध्यम से नहीं। आज के बदलते हुए विश्व परिदृश्य में जापान और भारत का पारस्परिक सहभाव और सहयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा। भारत एशिया-अफ्रीका के नव-जागरण का प्रतीक है और जापान प्रौद्योगिक उन्नति और आधुनिक प्रगति का आशा केन्द्र। विश्व शान्ति और आर्थिक सम्पन्नता के पथ पर दोनों देशों का परस्पर सहयोग भावी के मंगल द्वार खोल सकता है। □

—अफ्रीकी एशियाई भाषा अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67

भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षण का स्वरूप

★ परिचर्चाकार : डा० कमल किशोर गोयनका

भारत एक विशाल देश है जिसमें 22 प्रांत हैं तथा 9 केन्द्र शासित प्रदेश हैं। भाषा की दृष्टि से देश का बड़ा भाग हिन्दी भाषी है, किन्तु देश के विभिन्न प्रान्तों में कश्मीरी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, मलयालम, तेलुगु, कन्नड़, बंगला, अंग्रेजी आदि भाषाएं न केवल बोली जाती हैं, बल्कि शिक्षा का माध्यम भी बनती जा रही हैं। हिन्दी इस देश की राष्ट्र भाषा है और लगभग 100 विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य के शिक्षण का कार्य होता है। देश के 69 विश्वविद्यालयों में तो हिन्दी भाषा और साहित्य में एम०ए० तथा शोध-कार्य कराया जाता है। ऐसी स्थिति में भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के शिक्षण का आकलन करना सहज कार्य नहीं है। फिर भी, हमने देश के कुछ प्रमुख विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागाध्यक्षों से उनके यहां हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की स्थिति पर प्रश्नावली भेजकर विचार आमंत्रित किये जो अब यहां प्रस्तुत हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों में बी०ए० स्तर पर कई प्रकार की हिन्दी पढ़ायी जाती है—अनिवार्य हिन्दी, ऐच्छिक हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी, वाणिज्य एवं विज्ञान के छात्रों के लिए हिन्दी तथा अहिन्दी भाषी छात्रों के लिए हिन्दी। स्नातक स्तर पर विभिन्न विश्वविद्यालयों ने साहित्य के साथ भाषा को भी पाठ्यक्रम में रखा हुआ है, लेकिन अभी तक विद्वानों में एक मत नहीं हो पाया है कि भाषा शिक्षण का स्वरूप क्या होना चाहिए, फिर भी पाठ्यक्रम को व्यावसायिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रों से सम्बद्ध करने की सफलतापूर्वक चेष्टा की जा रही है। एम०ए० स्तर पर प्रायः विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, यद्यपि अहिन्दी प्रान्तों के विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषा एवं साहित्य का अध्ययन अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है जो प्रशंसनीय है। लेकिन अफसोस यह है कि हिन्दी प्रान्तों के विश्वविद्यालयों में अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का अध्ययन अनिवार्य नहीं है जो राष्ट्रीय समन्वय की दृष्टि से परमावश्यक है। कुछ विश्वविद्यालयों ने इसे आरम्भ तो किया है, किन्तु वहां भी उत्साह की कमी है। विश्वविद्यालयों में शोध की स्थिति पर सभी विभागाध्यक्ष चिंतित हैं कि किस प्रकार गिरते हुए स्तर को रोका जाय। मैं समझता हूं इसके लिए एक केन्द्रीय हिन्दी शोध समिति बनायी जा सकती है जो हिन्दी शोध को नियंत्रित करे एवं दिशा प्रदान करे। यदि ऐसा कोई केन्द्रीय नियंत्रण सम्भव न हो तो विभागाध्यक्षों एवं शोध-समितियों के अध्यक्षों को ही कठोरता से निर्धारित नीतियों का पालन करते हुए शोध स्तर को गिरने से रोकना होगा, अन्यथा

हिन्दी शोध राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता को खोता चला जायेगा।

भारतीय विश्वविद्यालयों में होने वाला हिन्दी-शिक्षण हिन्दी के विकास के लिए बहुत बड़ी शक्ति प्रदान करता है। यद्यपि ये हिन्दी-विभाग सीधे तौर से हिन्दी प्रचार-प्रसार का कार्य नहीं करते और अपने वर्तमान ढांचे में कर भी नहीं सकते हैं, फिर भी यहां होने वाला अध्ययन, शोध-कार्य तथा इनकी विभिन्न



डा० कमल किशोर गोयनका

गतिविधियां हिन्दी के विकास को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। यदि हिन्दी अध्यापक एवं छात्र हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन करते हुए हिन्दी के विकास के लिए सचेत हो जायें और अपने अतिरिक्त समय को हिन्दी के विकास के लिए लगा सकें तो हिन्दी विकास का कार्य आसानी से किया जा सकता है।

प्रश्नावली

1. भारतीय/आपके विश्वविद्यालय में स्नातक/स्नातकोत्तर तथा शोध-स्तर पर हिन्दी-भाषा और साहित्य के शिक्षण का

स्वरूप क्या है ?

2. क्या आप हिन्दी-भाषा और साहित्य के वर्तमान पाठ्यक्रम से संतुष्ट हैं, अथवा आपको इसमें परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होती है। साथ ही राष्ट्रीय समन्वय की दृष्टि से हिन्दी-भाषी राज्यों तथा अहिन्दी-भाषी राज्यों के हिन्दी पाठ्यक्रम का स्वरूप क्या होना चाहिए। दोनों के पाठ्यक्रम में एकरूपता होनी चाहिए अथवा अन्तर।
3. आप के विश्वविद्यालय में हिन्दी-भाषा एवं साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की पद्धतियाँ क्या छात्रों के लिए उपयोगी हैं? यदि ये पद्धतियाँ छात्रों के हित में नहीं हैं, तब आप किन नई पद्धतियों का प्रस्ताव करना चाहेंगे।
4. भारतीय विश्वविद्यालयों का हिन्दी-विभाग और साहित्य का शिक्षण किस प्रकार हिन्दी के समग्र विकास में सहायक हो सकता है।
5. भारत के लगभग प्रत्येक विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग क्रियाशील है। क्या आप यह मानते हैं कि इन हिन्दी विभागों का यह नैतिक दायित्व है कि वे हिन्दी प्रचार-प्रसार एवं विकास के लिए कार्य करें। कृपया बतायें, ये हिन्दी-विभाग हिन्दी शिक्षण के अतिरिक्त हिन्दी के विकास के लिए और क्या कार्य कर सकते हैं।

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा



प्रोफेसर हिन्दी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय,
कलकत्ता

1. हिन्दी भाषा और साहित्य के स्नातकीय, स्नातकोत्तर और शोध-स्तर पर हिन्दी भाषा और साहित्य के शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में प्रचुर संशोधन व परिवर्तन की आवश्यकता है। इन

तीनों में न तो कोई समीकृत शिक्षण पद्धति है, न समायोजित शैक्षिक व्यवस्था ही। अखिल भारतीय स्तर पर देखा जाय तो चुम्बने और खटकनेवाली विभिन्नता और विषमता का प्रमाण मिलेगा। मैं अपनी बात के प्रमाण में कहना चाहूँगा कि कुछेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी आनर्स की व्यवस्था है और स्नातकोत्तर अध्ययन की अनिवार्यता भी। इस प्रकार स्नातकीय स्तर पर कहीं हिन्दी अनिवार्य विषय है और कहीं ऐच्छिक। अंको का नियमन या विभाजन भी समान नहीं, इसका परिणाम यह है कि एक विश्वविद्यालय का छात्र यदि स्नातकोत्तर अध्ययन

के लिए दूसरे विश्वविद्यालय में जाना चाहे तो उसे कठिनाइयों का ही सामना करना पड़ेगा। हिन्दी और हिन्दीतर प्रदेशों में तो यह विषमता और भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है, क्योंकि कहीं अंग्रेजी अनिवार्य है और कहीं नहीं। विभिन्न शैक्षिक स्तरों में हमें शिक्षा की व्यापक पद्धति को देखने परखने, व पहचानने की आवश्यकता है। जहाँ तक शोध-कार्य का प्रश्न है मेरी अपनी सम्मति में यह अत्यन्त गिर गया है और शोधकार्य केवल उपाधि प्राप्त करने का एक साधन बन गया है। आज से कुछ दशक पूर्व उसकी जो मर्यादा और प्रतिष्ठा थी, वह भी आज नहीं है। मौलिकता, गवेषणा और नूतन तथ्यालोचन का तो पूरा अभाव है। मैं अनेक विश्वविद्यालयों की शोध परियोजनाओं से सम्बद्ध रहा हूँ और शोध-प्रबन्धों का मूल्यांकन भी करता हूँ। पीएच० डी० और डी० लिट्० का स्तर हेय हो गया है, यहाँ तक की भाषा की शुद्धता भी परिलक्षित नहीं होती। मेरी अपनी सम्मति में इसमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है और कुछ ऐसे नियमों की भी जिससे शोध-कार्य, अनुसंधाता और निर्देशक पर आवश्यक और अपेक्षित प्रतिबंध लगाया जा सके। कुछ विश्वविद्यालयों ने तो एम० फिल० की परीक्षा भी प्रारम्भ की है पर बहुतों ने नहीं। मेरी अपनी सम्मति में एम० फिल० की परीक्षा का लागू हो जाना आवश्यक है।

2. हिन्दी भाषा और साहित्य के वर्तमान पाठ्यक्रम से मुझे संतोष नहीं और मैं इसमें परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करता हूँ। कुछ समय पूर्व हिन्दी एवम् हिन्दीतर प्रदेशों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में अनेक विचार-गोष्ठियाँ हुई थीं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस ओर पहल की। सन् 1980 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित ऐसी ही विचार गोष्ठी में स्नातकोत्तर हिन्दी पाठ्यक्रम को दो वर्गों में विभाजित करने की संस्तुति की थी : भाषा विशिष्ट और साहित्य विशिष्ट। स्नातकोत्तर प्रश्नों के 8 प्रश्न पत्रों में चार मूल प्रश्नपत्र समान रूप से रहें और शेष 4 भाषा विशिष्ट और साहित्य विशिष्ट। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस संस्तुति को स्वीकार किया और तत्पश्चात् अनेक विश्वविद्यालयों ने इसे लागू भी कर दिया। हिन्दी भाषा हमारी राष्ट्रीय भाषा है और राजभाषा भी। प्रशासनिक, व्यावसायिक एवं अन्य क्षेत्रों में उसका उपयोग तेजी से बढ़ रहा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भाषा निष्णात शिक्षित वर्ग की भी हम प्रचुर मात्र में उपलब्धि करायें। मैं यह मानता हूँ कि हिन्दी और हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी पाठ्यक्रम समरूप होना चाहिए (एक रूप नहीं कहता)। इस विषय में अनेक विचार विमर्श भी हुए पर वे फलप्रसूत नहीं रहे। किसी भी साहित्य के उच्चस्तरीय शैक्षिक पाठ्यक्रम का वैज्ञानिक होना अनिवार्य है एवं इस पर प्रचुर कार्य हुआ है। खेद का विषय है कि हमने अभी तक इस ओर कोई अगुवानी नहीं की और थोड़ा बहुत परिवर्तन के साथ हम वही पुरानी

परिपाटी को ही अपनाते आ रहे है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आज स्नातकोत्तर परीक्षा पास करने के उपरान्त सामान्यतः विद्यार्थी न तो साहित्य का प्रामाणिक अध्ययन कर पाता है और न भाषा का पूर्ण ज्ञान ही प्राप्त कर पाता है। भारतीय हिन्दी परिषद् के एक अधिवेशन में स्वर्गीय फादर कामिल बुल्के ने यह प्रश्न उठाया था कि आज पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप से आदिकालीन साहित्य को सम्मिलित करना क्या प्रासंगिक है? पाश्चात्य भाषा-विशेषज्ञों ने ग्रीक और लैटिन के अध्ययन की, यहाँ तक कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के पाठ्यक्रम में चासर को सम्मिलित करने के औचित्य पर भी गम्भीरता से विचार किया है। मेरी धारणा है कि हमें भी इस ओर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। इस प्रश्न के अन्तर्गत आपने राष्ट्रीय समन्वय की बात उठाई है, यह बहुत ही आवश्यक है कि हम स्नातकोत्तर व स्नातकीय पाठ्यक्रम में एक प्रश्नपत्र 'आधुनिक भारतीय साहित्य' को अनिवार्य रूप से रखे जिसकी वैज्ञानिक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। कुछेक विश्व-विद्यालयों ने यह प्रश्न पत्र चालू भी कर दिया है।

3. मेरी सम्मति में अध्ययन, अध्यापन व परीक्षा की वर्तमान पद्धति छात्रों के लिए पूर्णतः उपयोगी नहीं है। साहित्य और विज्ञान के अध्ययन की पद्धति में अन्तर है। साहित्य व्यक्ति की संवेदनाओं व उसकी रागात्मकता का विकास कर व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसका विनियन बौद्धिकता के आधार पर नहीं होता। साहित्य का अध्ययन जीवनाभिमुख व समाज संपृक्त होता है। इसलिए साहित्य की शिक्षाप्ररता का सामाजिक जीवन से संबद्ध होना आवश्यक है—यह आवश्यकता आज सर्वोपरि है...क्योंकि मनुष्य के जीवन की रागात्मक संगति नष्ट प्रायः है। मेरी अपनी राय में साहित्य के पाठ्यक्रम का निर्धारण इसी आधार भूमि पर होना चाहिए। हिन्दी का राष्ट्रीय दायित्व भी है। वह राष्ट्र की प्राणधारा है। उसका भाषिक और साहित्यिक संदर्भ व परिप्रेक्ष्य सर्वभारतीय है... उसे अन्य भारतीय भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान का उत्प्रेरणा का भी निर्वाह करना है। इन सबके लिए आवश्यक है कि हम हिन्दी के पठन-पाठन की ऐसी व्यवस्था करें जिससे हिन्दी का छात्र, केवल आजीविका के लिए ही नहीं वरन् उपर्युक्त दायित्व का भी सम्यक निर्वाह कर सकें। इसी दृष्टि से मैंने स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम को भाषा विशिष्ट व साहित्य विशिष्ट बनाने पर बल दिया। स्नातकीय पाठ्यक्रम को भी हमें इसी प्रकार निर्धारित करना चाहिए।

4. भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा व साहित्य का अध्ययन हिन्दी के सर्वांगीण विकास में सहायक हो सकता है। एक उदाहरण दूँ—विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने समाज-सेवा विस्तार और शिक्षा के समन्वय पर जोर दिया है और इसके लिए अनेक योजनाएं भी स्वीकार की हैं। जिस प्रकार अनेक स्वैच्छिक संस्थाएं हिन्दी के विकास (में प्रचार

और प्रसार शब्दों का प्रयोग जान बूझ कर नहीं कर रहा हूँ) में कार्यरत हैं उसी प्रकार विश्वविद्यालय भी हो सकते हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में सर्टिफिकेट व डिप्लोमा की व्यवस्था है। हिन्दीतर राज्यों में हिन्दी के अध्ययन के निमित्त राष्ट्रीय स्कालरशिप है...उनका उचित उपयोग अहिन्दी भाषी विद्यार्थी नहीं कर पा रहे हैं। हमें स्नातकीय या स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में एक दो हिन्दीतर लेखकों की अनूदित रचनाओं को भी समाविष्ट करना चाहिए, जिससे अध्यापन के क्षेत्र की व्यापकता के साथ-साथ अखिल भारतीय साहित्यिक संस्कृति का भी उन्हें परिचय हो।

5. आपके इस प्रश्न का कुछ उत्तर मैंने ऊपर दे दिया है। यहां अपनी बात और स्पष्ट करना चाहूंगा। साहित्य व भाषा का अध्ययन व भाषा का 'प्रसार व प्रचार' दो भिन्न स्थितियां और इकाइयां हैं। इन्हें पूर्णतः या समग्रतः एक नहीं किया जा सकता। मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की जिस समानांतर विस्तार योजना का उल्लेख किया है उसी संदर्भ में मैं यहां अपनी राय देना चाहूंगा। साहित्य का विद्यार्थी अपने अध्ययन काल में 'फील्ड स्टडी' या लोक जीवन से संसिद्ध होने के लिए हिन्दी के विकास में योगदान दे सकता है...उसे देना चाहिए, पर साहित्य व भाषा के उच्च स्तरीय अध्ययन की पृथक्ता व भिन्नता को नष्ट करके नहीं। आपने 'नैतिक दायित्व' की बात कही है... मैं इसे 'सामाजिक दायित्व' कहना चाहूंगा...यह राष्ट्रीय कर्तव्य है। ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजी का या मुगल सम्राटों ने उर्दू... (अरबी...फारसी भी) का जो प्रचार किया वह उच्च स्तरीय शैक्षिक स्तर पर नहीं...उसके लिए उन्होंने भिन्न योजनाएं व प्रतिपाटियां निष्पादित की थीं। हिन्दी के लिए भी हमें यही करना चाहिए...और यही हो भी रहा है।

डा० बचन देव कुमार

प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रांची विश्व-विद्यालय, रांची

1. मेरा संबंध केवल स्नातकोत्तर शिक्षण से है इसीलिए विश्वविद्यालय में हिन्दी की शिक्षा के स्वरूप पर मैं अपनी राय दे रहा हूँ।

जब मैं विद्यार्थी था, तब से आज तक हिन्दी की स्नातकोत्तर कक्षाओं के पाठ्यक्रम में कोई बदलाव नहीं आया है। यह स्थिति संकेत है कि हिन्दी शिक्षण में एक



चितनीय ठहराव है। हिन्दी भाषा और साहित्य की जो नई भूमिकाएं इधर सामने आई हैं, उनके अनुरूप यह परम्परागत शिक्षा उपयुक्त नहीं है। इसे महसूस कर 15 से 18 अक्टूबर, 1978 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में परिवर्तन के लिए एक संगोष्ठी आयोजित की थी, जिसमें मैं भी आमंत्रित किया गया था। उक्त संगोष्ठी का सुझाव था कि एम० ए० के चार पत्रों में हिन्दी की नवीन प्रयोजनमूलकता से सम्बद्ध अध्यापन हो। लेकिन, संभवतः देश के किसी भी विश्वविद्यालय में इस सुझाव पर अमल नहीं किया गया। मैं स्वयं विभागाध्यक्ष होने के नाते इसकी बाधाओं से परिचित हूँ। न तो हिन्दी विभागों में प्रयोजनमूलक हिन्दी का अध्यापन करने में सक्षम अध्यापक हैं और न हमारे यहां प्रयोगशाला एवं इतर तकनीकी सुविधाएं ही उपलब्ध हैं। इस कारण से बहुत चाहकर भी शिक्षण—दशा में परिवर्तन नहीं हो पाता। जहां तक हिन्दी शोध की स्थिति का प्रश्न है, शोध की वर्तमान स्थिति भी कम चिंतनीय नहीं है। हिन्दी में प्रारंभिक शोध ईमानदारी से हुए होंगे, लेकिन जैसे-जैसे विश्वविद्यालयीय शोध का रिश्ता बेतन-वृद्धि, पदोन्नति आदि से जुड़ा गया वैसे-वैसे शोध का स्तर गिरता गया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने ऐसा निर्णय लिया है कि प्राध्यापक की नियुक्ति के लिए शोधोपाधि एक अनिवार्यता है। इसलिए हिन्दी में शोध का मेला लग गया है। शोधार्थी बेकारी से संतुष्ट चेहरे को इतना कठुना-सिक्त बनाए उपस्थित होते हैं कि शोध-निर्देशक को दयालुतापूर्वक उनकी रोजी-रोटी की समस्या का निदान करने के लिए उपाधि मानवीय घरातल पर बांट देनी पड़ती है। कश्मीर से अन्नामले तथा पोरबन्दर से गोहाटी तक हिन्दी में शोध हो रहा है, लेकिन इतने बड़े देश में अंतर्सम्पर्क के माध्यम के अभाव के कारण शोध की इतनी आवृत्तियां हो रही हैं, इतना पिष्टपेषण हो रहा है कि हिन्दी में शोध कार्य पर चिंता होती है।

2. निश्चय ही हिन्दी भाषा और साहित्य का वर्तमान पाठ्यक्रम असंतोषजनक है। हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन केवल सूर, तुलसी और निराला की काव्यसम्पदा की जानकारी के लिए नहीं होना चाहिए। आज की अन्यतम आवश्यकता प्रयोजनमूलक हिन्दी की जानकारी है, जिसकी कोई जगह वर्तमान पाठ्यक्रम में नहीं है। यही कारण है कि हमारे विद्यार्थी हिन्दी की नई भूमिकाओं में फिट नहीं बैठते और नई अर्हताओं के लिए असमर्थ मिद्ध होते हैं। हिन्दी भाषी और अहिन्दी भाषी राज्यों के पाठ्यक्रमों में अंतर तो होना ही चाहिए। हम लोग हिन्दी माध्यम से हिन्दी भाषा और साहित्य का अध्यापन करते हैं, जबकि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सिखाई जाती है।

3. क्या यह सम्भव है कि किसी परिचर्चा के छोटे से वक्तव्य में किसी विश्वविद्यालय की समूची अध्ययन-अध्यापन पद्धति को समेट दिया जाय। विस्तार से उन पद्धतियों का

संकेतन नहीं किया जा सकता है, जो मेरी परिकल्पना में है।

4. भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग सर्जना, समीक्षा और अनुसंधान के स्तर पर हिन्दी के रुमझ विकास में सहायक हैं। इस मूलभूत वास्तविकता में संदेह कैसे उत्पन्न हो गया? यदि देश में हिन्दी विभाग विश्वविद्यालय परिसर में न हों, तो हिन्दी मर जाएगी। कौन जानेगा हिन्दी को भला?

5. भारत के लगभग प्रत्येक विश्वविद्यालय से आपका क्या तात्पर्य है? इस स्वाधीन देश के कम-से-कम 25 प्रतिशत विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग नहीं हैं। जहां कहीं भी हिन्दी विभाग हैं, वहां हिन्दी का अध्यापन और अनुसंधान होता है। क्या केवल हिन्दी के शिक्षक पैदा करने के लिए? सारे देश में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सहायक होने वाले सेनानियों की तैयारी होती है यहां। सारे संसार में हिन्दी का ध्वज फहरे, यही तो विश्वविद्यालयीय हिन्दी-विभागों का संकल्प है। संविधान की तीन-तीन धारा जिस उपेक्षित राजभाषा को सही आसन न दिला सकी, उसी हिन्दी को उसका उचित दाय दिलाने का यत्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग कर रहे हैं। हमारे विद्यार्थी समूचे देश में जीवन के विभिन्न स्तरों पर फैले हुए हैं। हर कार्य क्षेत्र में हिन्दी विभागों के संदेश वाहक विद्यमान हैं, इसी से आप सोच लें कि हम वहां हैं।

डा० निर्मला जैन

प्रो० एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली



1. दिल्ली विश्वविद्यालय में स्नातक/स्नातकोत्तर स्तर पर साहित्य केन्द्रित पाठ्यक्रम स्वीकृत हैं। कुछ वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सुझाव पर इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत हिन्दी-भाषा-शिक्षण के प्रयोग पक्ष पर बल दिया जाने लगा। यह प्रयोग शिक्षण की दृष्टि से बहुत कारगर साबित नहीं हुआ। समस्या इस बात की नहीं थी कि व्यावहारिक हिन्दी का पठन-पाठन उपयोगी नहीं है, बल्कि इस बात की थी कि इसके शिक्षण की कोई वैज्ञानिक विधि अभी तक निश्चित नहीं की जा सकी। भाषा-शिक्षण के बड़े से बड़े समर्थक आज भी इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाते कि व्याकरण की पुरानी पद्धति से इस पद्धति में तात्त्विक अन्तर कहां है? इसलिए पाठ्यक्रम में भाषा-शिक्षण का अनुपात कम कर देने का आग्रह दिल्ली विश्वविद्यालय के कालेजों के अधिकांश प्राध्यापकों ने किया

और वह अनुपात कम कर दिया गया।

2. हिन्दी भाषा और साहित्य का वर्तमान पाठ्यक्रम निश्चित रूप से सन्तोषजनक नहीं है। इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है, किन्तु इस परिवर्तन की दिशा क्या हो, इस विषय में कोई स्पष्ट दृष्टि उभर कर सामने नहीं आई है। हिन्दी का पठन-पाठन जब भारतीय विश्वविद्यालयों में आरम्भ हुआ तब हिन्दी को साहित्य की दृष्टि से पढ़ाया और स्वीकार किया जाता था। धीरे-धीरे यह साहित्य न रह कर विषय भर रह गया है। दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के अनेक कारण हैं जिनमें नौकरी, सामाजिक आवश्यकता राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का दबाव सभी शामिल हैं। इसलिए इस बात की अपेक्षा नहीं की जा सकती कि एक निश्चित समय-सन्दर्भ में स्वीकृत पाठ्यक्रम किसी प्रकार का स्थाई और शाश्वत रूप ग्रहण कर ले। वर्तमान स्थिति में इस पाठ्यक्रम में परिवर्तन की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। राष्ट्रीय समन्वय की दृष्टि से हिन्दी भाषी राज्यों तथा अहिन्दी भाषी राज्यों के हिन्दी पाठ्यक्रम का स्वरूप एक जैसा नहीं हो सकता। अहिन्दी भाषी राज्यों में स्वभावतः पाठ्यक्रम में कुछ स्थान उस भाषाई क्षेत्र की भाषा में रचित साहित्य को मिलना चाहिए। मेरी समझ में तुलनात्मक साहित्य का कार्य भी जितने प्रामाणिक रूप में अहिन्दी भाषी राज्यों के हिन्दी पाठ्यक्रम के माध्यम से किया जा सकता है उतना फिलहाल हिन्दी भाषी राज्यों के हिन्दी पाठ्यक्रम के माध्यम से नहीं हो सकता। यह प्रश्न विस्तार और विवाद का है और इस सीमित परिचर्चा में इस पर कुछ भी कहना खतरे से खाली न होगा। केवल एक संकेत करना चाहती हूँ कि हिन्दी भाषी राज्यों के हिन्दी पाठ्यक्रम में किसी एक हिन्दी-इतर भाषा का ज्ञान विशेष कर स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य होना चाहिए।

3. दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की पद्धतियाँ पाठ्यक्रम के स्वरूप से बंधी रहीं हैं। किसी भी पद्धति की उपयोगिता केवल शिक्षण-विधि पर निर्भर नहीं होती, इस बात पर भी निर्भर होती है कि छात्र विषय का अध्ययन किस उद्देश्य के लिए कर रहा है। आज भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में एक निश्चित उपाधि के लिए कुछ विषय निश्चित हो गये हैं। यह विषय विशेषकर साहित्य, उपाधि के अतिरिक्त विद्यार्थी को कहीं और नहीं ले जाते। ऐसे में पढ़ाने की पद्धति के उपयोगी होने का प्रश्न केवल हिन्दी के विषय में ही नहीं बहुत से अन्य विषयों के संबंध में भी उठाना जरूरी है। यह तथ्य किसी से छिपा नहीं कि विद्यार्थी कक्षा में कम और पटरी पर मिलने वाले सस्ते चलता सहायक ग्रन्थों पर निर्भर करता है। इस तथ्य का प्रमाण किसी भी परीक्षा-भवन के बाहर प्रवेश करने से पहले विद्यार्थियों द्वारा छोड़ी हुई पुस्तकों से मिल सकता है। विश्वविद्यालय में किसी नई पद्धति के प्रयोग का प्रस्ताव इस

सवाल से बहुत गहरे जुड़ा है। जब तक विद्यार्थियों का शिक्षा के प्रति रुख नहीं बदलता, कोई नयी पद्धति विशेष कारगर नहीं हो सकती।

4. भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग और साहित्य का शिक्षण हिन्दी के समग्र विकास में दो दृष्टियों से सहायक हो सकता है। एक तो विद्यार्थियों की साहित्यिक रुचि बनाये रखकर, क्योंकि मेरी दृष्टि में कलाओं और साहित्य का अध्ययन व्यक्तित्व को संस्कार देता है, दूसरे, हिन्दी-भाषा के दैनंदिन जीवन में सही व्यवहार की दिशा में विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग सहायक हो सकते हैं। जीवन की आवश्यकता के अनुरूप हिन्दी को यदि इतना ग्राह्य और सहज बनाया जा सके कि उसके प्रयोग से लोग भय न खाएं तो इससे बड़ी सेवा हिन्दी की दूसरी नहीं हो सकती।

5. भारत के विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का यह निश्चित रूप से नैतिक दायित्व है कि वे हिन्दी प्रचार-प्रसार एवं विकास के लिए कार्य करें। आपके प्रश्न में जिस तरह के विकास का संकेत मुझे दिखाई पड़ता है उसके लिए विश्व-विद्यालयों के विभागों के अतिरिक्त अन्य संस्थाएं सक्रिय हैं और हम सब जानते हैं कि अतीत में भी यह काम ऐसी ही संस्थाओं के द्वारा सम्पन्न होता रहा है। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा या हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा ऐसी ही दूसरी तमाम संस्थाएं। ये संस्थाएं हिन्दी प्रचार में इसलिए अधिक सफल हो सकी हैं कि इनके जन संपर्क का दायरा विश्वविद्यालयी जीवन से कहीं अधिक बड़ा है। इसके अलावा एक तन्त्र के अन्तर्गत उन्हें अपने कार्यक्रम और योजनाएं बनाने की छूट काफी हद तक है। इसके विपरीत विश्वविद्यालय जिस व्यवस्था के भीतर सक्रिय रहता है उसमें एक सीमा के आगे किसी भाषा का प्रचार-प्रसार करना उसके लिए संभव नहीं हो सकता। इस तरह का कोई प्रयत्न केवल पाठ्यक्रम और शिक्षा पद्धति के माध्यम से किया जा सकता है प्रचार-प्रसार के रूप में नहीं।

डा० आनंद प्रकाश दीक्षित

प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, पूना

1. भारत में इस समय पांच प्रकार के विश्वविद्यालय हैं। सामान्यतः अन्यान्य संकायों के अन्तर्गत शिक्षण की व्यवस्था करने वाले विश्वविद्यालय तो हैं ही और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उनकी संख्या में वृद्धि भी बहुत हुई है; केवल संस्कृत, संगीत, कृषि या तकनीकी का शिक्षण देने वाले विश्वविद्यालय भी कार्यरत हैं। इनमें से केवल तकनीकी विश्वविद्यालयों को छोड़कर शेष सभी में किसी न किसी स्तर पर और किसी न किसी रूप में हिन्दी का अध्यापन हो रहा है। मुख्यतः सभी संकायों में

शिक्षण की व्यवस्था करने वाले विश्वविद्यालयों में हिन्दी का स्वतंत्र विभाग है। इनमें से कुछ विश्वविद्यालय ऐसे हैं जिनमें कला संकाय में एक स्वतंत्र अनिवार्य/अथवा वैकल्पिक विषय के रूप में तो हिन्दी के अध्यापन की व्यवस्था है ही, विज्ञान तथा



वाणिज्य संकायों में भी हिन्दी एक अनिवार्य विषय के रूप में स्नातक स्तर तक अध्येय मानी गई है। कुछ हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों के स्तर संकायों में हिन्दी की अनिवार्यता अथवा विकल्प की स्थिति समाप्त कर दी गई है और हिन्दीतर

प्रदेश में हिन्दी भाषा और साहित्य या केवल हिन्दी साहित्य के अध्ययन की व्यवस्था कला संकाय तक हो सीमित है। पूना विश्वविद्यालय में इस समय उसकी स्थिति स्नातक स्तर के द्वितीय वर्ष तक कला-संकाय के अन्तर्गत सामान्य हिन्दी और वैकल्पिक हिन्दी के रूप में बनी हुई है। तीसरे वर्ष में विशेषज्ञता के लिए बी०ए० ऑनर्स के छात्र अकेले विषय के रूप में हिन्दी का अध्ययन करते हैं। वाणिज्य संकाय में प्रथम वर्ष में हिन्दी पूरक (फीडर) विषय के रूप में स्वीकृत है और विज्ञान संकाय में इस वर्ष हिन्दी के स्थान पर मराठी आ गयी है। स्नातकोत्तर स्तर पर नियमित शिक्षण का प्रबंध एम०ए० तथा एम०फिल० के लिए उपलब्ध है तथा शोधोपाधि वाचस्पति (पी०एच०डी०) की भी व्यवस्था है, यद्यपि इसका नियमित शिक्षण नहीं होता।

इन भिन्न स्तरों पर हिन्दी के शिक्षण के लिए चार बातों का ध्यान रखकर पाठ्यक्रम तैयार किया गया है—(1) साहित्य के साथ भाषा के रूप में भी हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन (2) वाणिज्य शाखा के छात्रों को उनके लिए उपयोगी पत्राचार, पारिभाषिक शब्दावली तथा उनके विषयों की हिन्दी में जानकारी (3) भाषाशास्त्र, तुलनात्मक भाषा-ज्ञान, भाषा-साहित्य के शिक्षण आदि में विशेषज्ञता प्रदान करना (4) हिन्दी भाषा और साहित्य के संदर्भ में प्रादेशिक भाषा और साहित्य का आवश्यक ज्ञान प्रदान करना।

2. अपने विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए मेरा विचार है कि प्रादेशिक और व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त हमारे यहां का पाठ्यक्रम साहित्य और भाषा की सर्वतोमुखी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है और उससे स्नातकोत्तर स्तर पर साहित्य, भाषा, काव्यशास्त्र तथा काव्य-सौंदर्य के क्षेत्र में सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त विशेषज्ञता भी प्राप्त होती है। यह विशेष ध्यातव्य है कि सभी स्तरों पर पाठ्यक्रम को हिन्दी प्रदेशों के पाठ्यक्रम की तुलना में समस्तरीय

ही रखा गया है। इसके अतिरिक्त हमारे यहां एम०ए० के स्तर पर व्यावसायिक हिन्दी का पृथक रूप से एक संपूर्ण पाठ्यक्रम भी स्वीकृत है जिसके द्वारा अन्यान्य क्षेत्रों से संबद्ध भाषिक और व्यावहारिक ज्ञान के लिए प्रश्न पत्रों की व्यवस्था की गई है। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य बैंकों, विविध संस्थानों, सरकारी कार्यालयों आदि के लिए हिन्दी अधिकारी तैयार करना है। देखा यह गया है कि केवल साहित्य में प्रशिक्षित छात्र इन क्षेत्रों के योग्य सिद्ध नहीं होते। हमें व्यापकता और स्तरीयता दोनों दृष्टियों से अपने पाठ्यक्रम से पूर्ण संतोष है। हम विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम में एकरूपता एवं स्तरीयता के पक्ष में हैं। भारतीय संदर्भ में इस बात का महत्व इसलिए है क्योंकि थोड़े-बहुत कालभेद से भारत की सभी भाषाओं में समान प्रवृत्तियों का विकास हुआ है, दूसरे सांस्कृतिक स्तर पर भी समग्र देश में एकसूत्रता देखी जा सकती है, लेकिन सामान्यतः एकरूपता की रक्षा करते हुए भी प्रादेशिक आवश्यकताओं को देखते हुए थोड़ी-बहुत भिन्नता प्रदेश भेद से हो सकती है। इसी प्रकार स्तरीयता की भी रक्षा की जानी चाहिए, लेकिन इसमें कभी-कभी अड़चन आ जाती है। हिन्दीतर प्रदेशों में यह मांग की जाती है कि ब्रज, अवधी या इतर हिन्दी की बोलियों का साहित्य न पढ़ाया जाय, क्योंकि उन्हें इस साहित्य के अध्ययन में कठिनाई होती है हमारा विचार है कि हिन्दीतर प्रदेशों में, देश के सांस्कृतिक संगठन तथा राष्ट्रीय समन्वय को ध्यान में रखकर, इस प्राचीन साहित्य को अवश्य ही पढ़ाया जाना चाहिए। भाषा की कठिनाई को दूर करने के लिए इन बोलियों से छात्रों को परिचित कराया जा सकता है। राष्ट्रीय समन्वय के लिए यह भी आवश्यक है कि हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में अन्तर भाषा-भाषी प्रदेशों से किसी भी एक भाषा एवं लिपि का ज्ञान अनिवार्य प्रश्नपत्र के रूप में कराया जाय। यदि हिन्दी में अन्तर भाषाओं की प्रमुख रचनाओं का अनुवाद सहित लिप्यंतरण हो जाय तो छात्रों के लिए बड़ी सुविधा होगी।

3. हिन्दी अध्ययन-अध्यापन की विधि विश्वविद्यालय के अन्य भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन की विधियों से प्रायः भिन्न नहीं है। इसका संबंध प्रत्येक छात्र और अध्यापक से है, अतः विधियां भी अनेक और अलग-अलग हो सकती हैं। उनकी परिगणना यहां सम्भव नहीं। पर मुख्यतः छात्रों से अपेक्षा की जाती है कि वे 'पाठ' या अध्येय विषय को पहले से पढ़कर आयें उनसे संबंधित निर्दिष्ट पुस्तकों का बाद में अध्ययन करें, बताए हुए पाठ या विषय का विवेचन लिखित रूप में प्राध्यापक के सामने प्रस्तुत करें, सेमीनार में चुने हुए ऐसे कुछ लेखों पर छात्रों तथा अध्यापक द्वारा विचार और वाद-विवाद हो, कमजोर छात्रों को अलग से अध्ययन विषयक निर्देश और अभ्यास के लिए समय दिया जाय। कक्षा में भाषण द्वारा विषय का प्रतिपादन और स्पष्टीकरण करने के अतिरिक्त अध्यापक प्रश्नकर्ता तथा छात्रों को उत्तरदाता की भूमिका निभानी चाहिए। जिसमें छात्रों

को विषय का समग्र ज्ञान हो सके तथा इन्हें सही दिशा दी जा सके। हमने सत्रारम्भ में प्राध्यापक को प्रश्न मंजूषा देने की विधि भी अपनाई है। परन्तु हम इस ओर भी प्रयत्न करते हैं कि विषय के सभी कोणों की ओर छात्रों का ध्यान खींचा जा सके। स्नातकोत्तर स्तर पर अध्यापक वर्ष में एक या दो बार अपनी रुचि के विषयों पर छात्रों के सम्मुख मुक्त भाषण देता है तथा छात्र भी कभी-कभी स्वयं गोष्ठियां आयोजित करते हैं और साहित्यिक विषयों पर स्वतंत्र रूप से चर्चा करते हैं। हमारे अनुभव से ये गोष्ठियां बहुत उपयोगी प्रमाणित हुई हैं। इस प्रकार उक्त प्रकार के साहित्यिक व्यावहारिक पाठ्यक्रम और अध्यापन एवं शोध से हिन्दी के समग्र विकास में सहायता मिल सकती है।

4. 5. विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का मूलोद्देश्य हिन्दी भाषा और साहित्य का समृद्ध ज्ञान कराते हुए उसका विकास करना है। प्रचार-प्रसार का काम दूसरी संस्थाओं के माध्यम से होना चाहिए। केवल साहित्य के स्तर पर ही शोध कार्य करने कराने की अपेक्षा प्राध्यापक एवं शोधकर्ता यदि अब व्यावहारिक प्रयोजनाओं पर भी ध्यान दें और कार्य करें तो हिन्दी का विकास तीव्र गति से हो सकता है। उदाहरणार्थतः हिन्दी में संदर्भ कोशों, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखादि की सूची, बोलियों और भारतीय भाषाओं की समान शब्दावली का अर्थवैज्ञानिक अध्ययन, हिन्दी का सरलीकरण एवं व्यवहार भेद का अध्ययन, द्विभाषिकता और हिन्दी की समस्याएं आदि विषयों पर प्रामाणिक शोधात्मक ग्रंथ कराये जाने चाहिए। भारतीय भाषाओं से हिन्दी में गृहीत किये जाने वाले शब्दों पर भी गंभीरतापूर्वक कार्य होना चाहिए। हिन्दी के महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ तैयार करके प्रकाशित कराये जाने चाहिए। हिन्दी विभाग इतर विषयों एवं भाषाओं के विद्वानों को आमंत्रित करके हिन्दी प्रयोग में आने वाली उनकी कठिनाइयों पर भी विचार/गोष्ठी कर सकते हैं जिससे उनकी समस्याओं का समाधान हो सके। मेरा विश्वास है कि हिन्दी के लिए केवल हिन्दी सेवियों के बीच ही वक्तव्य देने से कोई लाभ नहीं है। सद्भावना यात्राएं भी लाभकर होंगी।

डा० (श्रीमती) ज्ञान अस्थाना

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय,
हैदराबाद

1. स्नातक स्तर पर उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में हिन्दी की पढ़ाई दो प्रकार से होती है : कुछ विद्यार्थी हिन्दी ऐच्छिक रूप से पढ़ते हैं, किन्तु प्रत्येक विद्यार्थी को एक भाषा द्वितीय भाषा के स्तर पर पढ़ना अनिवार्य है। इसमें सर्वाधिक छात्रों की संख्या तेलुगु में रहती है। द्वितीय भाषा के रूप में जर्मन, फ्रेंच, रूसी के अतिरिक्त अरबी फारसी और संस्कृत पढ़ाने की भी व्यवस्था है। हमारे यहां स्नातक पाठ्यक्रम तीन

वर्षों का है, जिसमें प्रथम दो वर्षों में अंग्रेजी पढ़ना अनिवार्य है।

स्नातकोत्तर एवं शोध के स्तर पर हमारा पाठ्यक्रम भारत के अन्य विश्वविद्यालयों के ही अनुरूप है— शोध के क्षेत्र में तुलनात्मक स्तर पर कुछ अधिक बल दिया जाता है।

2. हम अपने पाठ्यक्रम से सन्तुष्ट हैं...यथासमय थोड़ा-बहुत परिवर्तन करते हैं। उदाहरणार्थ, हमने पिछले कुछ वर्षों में दक्खिनी और लोक-साहित्य ऐच्छिक रूप से रखा था किन्तु बाद में अनुवाद और कार्यालयी हिन्दी पाठ्यक्रम चलाया जो आज भी चल रहा है...इस पाठ्यक्रम से विद्यार्थियों को नौकरी मिलने में कुछ सुविधा होती है।



प्रायः आवाज उठती है कि प्राचीन काव्य नहीं पढ़ाना चाहिए। हमारा अनुभव यह है कि प्राचीन साहित्य जितना बोधगम्य है उतना नया नहीं। हां, इतना अवश्य है कि प्राचीन साहित्य पढ़ते समय प्राध्यापक को पौराणिक आधुनिक संदर्भों को भी समझाना चाहिए। कुछ समय कलकत्ता वि० वि० में यू० जी० सी० से एक विशेष संगोष्ठी का आयोजन हुआ था उसमें प्रस्ताव पारित हुआ था कि हिन्दी-अहिन्दी का भेद मिटाकर स्नातकोत्तर स्तर पर पाठ्य-क्रमों में एकरूपता बनाए रखी जाए। हमारा वि० वि० उसी के अनुसार अपना पाठ्यक्रम चला रहा है।

3. अब तक हमारे यहां बी०ए० और एम०ए० में सेमेस्टर पद्धति चल रही थी। अगले वर्ष से इस पद्धति को समाप्त कर वार्षिकी (Year wise) पद्धति लाना निश्चित हो चुका है।

अहिन्दी भाषी प्रान्तों में पढ़ाने वाले प्राध्यापकों को शुद्ध भाषा और शुद्ध उच्चारण का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। अहिन्दी भाषी प्रान्तों में कुछ ट्यूटोरियल्स भी होने चाहिए...साथ ही आधुनिक साधनों का प्रयोग कर सही उच्चारण पर बल देना चाहिए। प्रायः विद्यार्थी ब और भ, त और थ, ड और ढ में अन्तर नहीं समझ पाते।

4. विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा और साहित्य के शिक्षण तथा समग्र विकास के लिए सबसे पहले तो समग्र वि० वि० में पाठ्य-क्रम की एकरूपता होना आवश्यक है साथ ही विद्यार्थियों की प्रतिभा और रुचि का भी ध्यान रखना चाहिए। हमारा अनुभव यह है कि मोटे तौर पर विद्यार्थी दो प्रकार के होते हैं। एक जो पढ़-लिख कर शीघ्र ही नौकरी पाना चाहते हैं, दूसरे वे जो साहित्य के रस का आस्वादन कर अपने अन्तर में दबी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रेरणा पाते हैं तथा साहित्य

के अध्ययन को मात्र जीविका से न जोड़ पर आत्मानन्द और ज्ञानवर्धन के लिए भी चाहते हैं।

इसी उद्देश्य से जहाँ अनुवाद, कार्यालयी हिन्दी, प्रशासनिक लेखन और टिप्पण जैसे विषय हैं वहाँ उसी के साथ मौलिक चिन्तन को प्रेरित करने के लिए काव्य, नाटक, कथा-साहित्य आदि विधाओं के व्यापक और सूक्ष्म अध्ययन की भी सुविधा हो। इसके लिए लेखक-शिविरों एवं संगोष्ठियों का आयोजन होना चाहिए। अच्छी और कम मूल्य की पत्रिकाएं प्रकाशित होनी चाहिए।

5. हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए सबसे बड़ा नैतिक दायित्व तो शिक्षक का ही है। यदि प्रत्येक शिक्षक अपने अध्यापन काल में कुछ ऐसे विद्यार्थी बना सके जो हिन्दी में एक "हस्ताक्षर" बना सकें तो निश्चय ही उसकी प्रतिबद्धता नैतिकता का विकास करेगी।

हिन्दी का प्रचार और प्रसार कक्षाओं या संस्थाओं की उपाधियों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। इसके लिए आवश्यकता है बहुत बड़े पैमाने पर काम करने की। शिविरों, कम्पों और गोष्ठियों के अतिरिक्त शिक्षक और विद्यार्थियों के लिए शैक्षणिक यात्राओं की सुविधा होनी चाहिए। आकाशवाणी और दूरदर्शन से रोचक कार्यक्रम हों तो बहुत सुविधा होगी। कुछ अच्छे नाटकों, कहानियों और उपन्यासों पर यदि विडियो टेप बना कर दिखाये जाएं तो उनका प्रभाव निश्चय ही कक्षा या पुस्तकालय की पढ़ाई से अधिक गहरा होगा और इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास किया जा सकेगा।

मद्रास विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए वर्तमान पाठ्यक्रम (1983-84 से चालू) दो वर्ष का है। प्रथम वर्ष 5 प्रश्न पत्र और दूसरे वर्ष भी 5 प्रश्न पत्र। सेमेस्टर पद्धति को बन्द करके पुनः वार्षिक परीक्षाएं चलाने की योजना है। पहले से अधिक और संभवतः अन्य विश्वविद्यालयों से अधिक भाषा पर अधिक ध्यान दिया जाता है। भाषाशास्त्र में नवीन विकासों का परिचय देने के अतिरिक्त प्राचीन काव्य के अध्यापन में भी शब्दों की व्युत्पत्ति ध्वनि परिवर्तन, क्रमिक विकास आदि पर बल दिया जाता है। एक वर्ष में हिन्दी के व्यापक परिप्रेक्ष्य के स्वरूप का यानी प्रशासनिक, व्यापारिक आदि क्षेत्रों की हिन्दी के स्वरूप का परिचय दिया जाता है। अनुवाद का एक पत्र रखा गया है। वैकल्पिक रूप में संस्कृत या कोई दक्षिणी भाषा या चारों द्राविड़भाषाओं के साहित्य का इतिहास रखा गया है। शोध के क्षेत्र में हमारे यहाँ पी. एच. डी. और एम. फील. की व्यवस्था है। यद्यपि दक्षिण की विविध भाषाओं के साहित्यों के साथ हिन्दी साहित्य की तुलना अक्सर की जाती है, तो भी यह कोई सामान्य नियम नहीं है। शोध में भी अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य का कार्य किया जा रहा है। डिरेक्ट और प्रेमचंद पर एक

शोध प्रबन्ध तैयार हो चुका है। हिन्दी मलयालम कहावतों का और हिन्दी-तामिल कहावतों का तुलनात्मक समाजशास्त्री अध्ययन अलग-अलग हो रहा है। हिन्दी भाषा और रूसी भाषा की संरचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन शुरू किया गया है।

वर्तमान पाठ्यक्रम पूर्णतः सन्तोषजनक न होने पर भी असन्तोषजनक नहीं है। यद्योचित अध्यापन-प्रणाली का उपयोग करने पर भाषा और साहित्य का काफी अच्छा ज्ञान हो जाता है। तमिलनाडू के स्कूली पाठ्यक्रम में हिन्दी न होने के कारण इने-गिने छात्र ही बी. ए. / बी. एस. सी. में हिन्दी लेते हैं उनमें भी चन्द छात्र ही एम. ए. के लिए आते हैं। विशेष दिलचस्पी रखने वाले और उच्च बौद्धिक स्तर के छात्र ही एम० ए० में हिन्दी लेते हैं। अतः सामान्यतः स्तर अपेक्षाकृत अच्छा होता है फिर भी भाषा सुधार कर छात्रों को पूर्णतः दक्ष बनाने के लिए विशेष सुधारक व्याकरण (रीमेडिअल ग्रामर) के पाठ अभ्यास सहित दिये जाते हैं। इस समय इस तरह 40 पाठ देने की योजना है। इससे भाषा पर पूरा अधिकार आ जाता है।

राष्ट्रीय समन्वय की दृष्टि से देखा जाय तो उच्चशिक्षा, प्रारम्भिक एवं माध्यमिक स्तरों सभी में हिन्दी भाषी और अहिन्दी भाषी प्रदेशों के पाठ्यक्रमों में अन्तर होना अनिवार्य है। अहिन्दी भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में उचित प्रणालियों से शुद्ध भाषा लिखने और हिन्दी की तरह हिन्दी बोलने का अभ्यास दिलाना जरूरी है पर खेद की बात है कि इसके लिए न साधन सामग्री मिलती है, न छात्रों की मातृ भाषा का ध्यान में रखकर शिक्षा प्रणालियां विकसित की गयी हैं, और न वैज्ञानिक भाषा-शिक्षण प्रणाली में दक्ष अध्यापक मिलते हैं।

किन्तु अन्तिम लक्ष्य उच्चतम स्तर पर भाषा-दक्षता (Language Competence) की दृष्टि से उत्तर-दक्षिण के भेद को मिटाना होना चाहिए। इसके लिए (1) भाषा की विविध शैलियों का ज्ञान साहित्यिक हिन्दी, अखबारी हिन्दी, व्यापारी हिन्दी, प्रशासनिक हिन्दी आदि का ज्ञान। (2) संस्कृत और उर्दू का सामान्य परिचय और (3) भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत वाङ्मय का परिचय आवश्यक है। अब तक इस दिशा में सोचकर पठन सामग्री तैयार नहीं की गयी है।

विषय की दृष्टि से विविध प्रादेशिक भाषाओं के श्रेष्ठतम ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी अन्य प्रदेशों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में आ सकें तो अच्छा होगा। इसी तरह विविध प्रादेशिक संस्कृतियों से सम्बन्धित मौलिक हिन्दी ग्रन्थ भी पाठ्यक्रम में रखने से विशेष लाभ होगा। दोनों के लिए पर्याप्त सामग्री तैयार नहीं हुई है। कुछ इने-गिने अनुवाद निकले हैं—जिनको प्रातिनिधिक नहीं कहा जा सकता पर ये पर्याप्त नहीं हैं। प्रारम्भ में इनको ही पाठ्यक्रम में रखा जा सकता है।

(शेष पृष्ठ 80 पर)



ओदोलेन स्मेकल : प्यार और विश्वासों का कवि

चैक भाषा-विज्ञानी ओदोलेन स्मेकल भारत में एक कवि के रूप में अधिक जाने जाते हैं। कविता के प्रति उनका अनुराग किसी भी तरह से भारत के प्रति अनुराग से कम नहीं है। अगर यह स्वीकार कर लिया जाए कि बिना दबाव के कविता करना सम्भव नहीं है तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि स्मेकल की काव्य-सर्जना के पीछे का दबाव उनका भारत और हिंदी के प्रति विशेष अनुराग ही है। फादर कामिल बुल्के और लाठौर लुत्से ने जहां हिन्दी में विशिष्ट काम किया है, वहां स्मेकल अपनी काव्यात्मक उर्जा के साथ हिन्दी जगत से जुड़े हैं।

अभी तक उनके दो कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पहला 'तेरे दान दिए गीत' (समकालीन प्रकाशन, 2762, राजगुरु मार्ग नयी दिल्ली-55) और दूसरा है 'मेरी प्रीत तेरे गीत' (श्री शान्ति कुन्ज प्रकाशन, ए-20/4, मीरा मार्ग, राणाप्रताप बाग, दिल्ली-7) दोनों संग्रहों की कविताओं से यह ध्वनित होता है कि स्मेकल पूरी तरह से भारतीय परिवेश और भारतीय मानसिकता से जुड़े हुए हैं। एक ओर जहां वे भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराओं को उकेरते हुए कविताओं की सर्जना करते हैं तो दूसरी ओर आज के भारत में व्याप्त गरीबी, बेकारी, आपसी कटुता और साम्प्रदायिकता को भी रेखांकित करने से नहीं चूकते। उनका यह रेखांकन एक ऐसे आदमी का रेखांकन है, जो अपनी अभिव्यक्ति में अपने व्यक्तित्व की तरह से ही सरल और निश्चल है। वह इन कमजोरियों का मजाक नहीं उड़ाता, बल्कि पीड़ित होकर कहता है।

पूछ रहा
भारतवासी
सड़क पर घूमते हुए
दूसरे को रोक
एक भाई साहब ?
पुराने मालिक की भाषा
कब तक लादते रहेंगे
देशभाषा पर अधिकार किए बिना ?
कब तक ?

यह एक प्रासंगिक सवाल है। क्या ये काव्य पंक्तियां यह तथ्य उजागर नहीं करतीं कि भारतीय मानसिकता आज भी पूरी तरह अंग्रेजी दासता से मुक्त नहीं हो सकी है। जब एक विदेशी कवि हमसे यह पूछता है, जवाब खोजने में और भी तत्परता बरतने की जरूरत महसूस होती है।

ओदोलेन स्मेकल की यह यातना हमें उसके बहुत करीब ला देती है। हमें यह एहसास नहीं रहता कि यह कोई बाहर का व्यक्ति उनसे जवाब-तलब कर रहा है, बल्कि लगता है कि अपनों के बीच से ही कोई प्रोटेस्ट का हाथ तान कर खड़ा हो गया है। कवि की पीड़ा मात्र भाषा के प्रति उपेक्षा के प्रति ही नहीं, गरीबी के लिए भी उपजती है, उसने भारत में फैले भिखारी देखे हैं। इतनी निर्धनता किसी भी सम्य देश को शर्म-सार कर सकती है। पर स्मेकल बिश्वासों और आशाओं के कवि हैं। इस सबके बावजूद वे भारत को समृद्ध, सम्पन्न और खुशहाल देश देखना चाहते हैं। तभी तो वे कहते हैं।

लिख बेटे लिख

किसी देश का नाम

जहां कोई मांगता नहीं भीख

जहां मां की गोद से

प्रताप सहगल

सदा के लिए खो गयी

भूखे शिशुओं की चीख

लिख बेटे लिख

स्मेकल की कविताओं में शिल्प की कसावट भले ही न मिले, लेकिन उनमें भावोद्बलन की अपार क्षमताएं मौजूद हैं। वे बार-बार मजबूर करते हैं कि हम अपने अतीत के गौरवशाली पथ को देखें, देखें अपनी समृद्ध परम्पराओं को, जिन्हें आज आम भारतीय भूलने की प्रक्रिया से गुजर रहा है क्यों? ऐसी क्या चीज है वो जो कवि को बार-बार यहां खींच लाती है। शान्ति के उद्बोध, प्रेम के प्रतीक राधा और कृष्ण, रामराज्य की कल्पनाएं इमली और जामुन के पेड़, गीता का दर्शन, परमात्मा के प्रति लोगों की अटूट आस्था ऐसे सत्य हैं, जो स्मेकल के कवि को बार-बार आकर्षित करते हैं। उसे आकर्षित करता है भारतीय पौराणिक गाथाओं में व्याप्त अप्सराओं का सौंदर्य और वह गा उठता है—

अभी भी मन करता है

केश-बिखरे केश उनके

संवार कर अपने छन्दों में समा लूं

जाने से पहले अपने देश।

ओदोलेन स्मेकल की कविताओं का मुख्य स्वर अवसाद या निराशा का नहीं है। पीड़ा है। मानवता के दुःखों से अभिभूत होकर किसी भी कवि के मन में निसृत होने वाली पीड़ा उनकी कविता 'महामारी' इसका सशक्त उदाहरण है—देखे किसने कहा। ऐमे हडले हाथ। दुभर लू थके पैर/और दुख-इतना दुख।

कवि की अनुरक्ति मात्र भारतीय परम्पराओं के प्रति ही नहीं, यहां की गलियों, पेड़ों और पहाड़ों के प्रति भी है। एक ओर तो वे यहां की गलियों के बिखराव को कविता में उतारने से नहीं चूकते तो दूसरी ओर वे प्रकृति के मनोरम दृश्यों को भी अपनी कलम में बांधते चले जाते हैं। उनका यह प्रकृति प्रेम पंत जैसा वायवी, प्रसाद जैसा रहस्यवादो या महादेवी का 'नीर भरी दुःख की बदली' जैसा नहीं है, बल्कि 'पान बेचने वाली कविता' जैसा है। जिस तरह से वे भारत की 'पान बेचने वाली' के प्रति मानवीय रूप से जुड़े हुए हैं। उसी तरह से वे प्रकृति के साथ भी जुड़े हैं। पान बेचने वाली,, रिक्शा वाले या दूसरे शोषित लोगों के प्रति कवि के मन में दया भाव नहीं, बल्कि आक्रोश है। कवि क्योंकि कविता को तलवार नहीं मानता, इसलिए आक्रोश में कविता ही गा सकता है। वह कहता है :

लिख दंगा हजारों कविताएं

उन नन्हें हाथों पर

जो स्लेट के बदले

तवे, बर्तन, सुराही

मांजते चमकाते हैं

घर पर, दुकान पर,

एक नहीं हजारों कविताएं लिखना चाहता है कवि। यह मात्र औपचारिकता नहीं, बल्कि कहीं दूर तक सालने वाला सत्य है, जिसे स्मेकल के कवि ने पकड़ा है।

'तेरे दान दिये गीत' तथा 'मेरी प्रीत तेरे गीत' की कविताओं में कवि की भावनाओं का स्वर एकात्म लिए हुए है। दूसरे कविता-संग्रह की कई कविताएं कवि की काव्य-यात्रा का अगला पड़ाव लगती हैं। आशा है, आने वाले वर्षों में ओदोलेन स्मेकल की कविताओं के और संग्रह भी मिलेंगे। वे सम्भवतः इस पड़ाव से आगे की यात्रा तय करते हुए आएंगे।

स्मेकल का प्रेम सम्पूर्ण मानव-जाति के प्रति है, विशेष है भारत और भारत के लोगों के प्रति। वह आह्वान करता है :—

रोब

क्या एक ही बार

दो तीन चार

रोप दो

प्राण में सौ बार

रोप

कोटि-कोटि

प्यार

प्यार रोपते, प्यार बांटते और प्यार की ही अलख जगाते इस कवि का अभिवादन है।

एफ-101 राजौरी गार्डन,

नई दिल्ली 110027

व्यवस्था के प्रति विरोध के स्वर

★ मृदुला श्ररुण

'सब स्वार्थी हैं', लेखक—आरिगपूडि, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, मूल्य : 22 रु० पृष्ठ : 159।

'सुबह होती है शाम होती है', लेखिका प्रतिमा वर्मा, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 18 रुपये, पृष्ठ : 107।

वर्तमान युग की बढ़ती आपाधापी के परिणामस्वरूप जो द्वन्द्व आज तेजी से उभर रहा है वो है परिस्थितिजन्य समझौते-वाद से उभरा मानवीय सम्बन्धों का अवमूल्यन। जीवनगत समस्याओं का इस कदर विषम हो जाना कि आदर्शों की लड़ाई लड़ते-लड़ते स्वयं भी चुक कर उसी खेमे का एक अंग बन जाना या विद्रोह से उबलते जोश का विध्वंसात्मक कार्यवाहियों को ही क्रांति समझ दिशाहीनता में विलय हो जाना—एक विचारणीय प्रश्न है। 'सब स्वार्थी हैं' और 'सुबह होती है शाम होती है' दोनों ही उपन्यासों में इन समस्याओं को छूने की कोशिश की

गई है। दोनों उपन्यास कथावस्तु एवं उसके निर्वाह में कतई भिन्न होते हुए भी शासन तंत्र एवं व्यवस्था के पंजों में जकड़ी असहाय मानसिक वेदना को उजागर करते हैं।

आरिगपूडि की कहानी 'सब स्वार्थी हैं' अमीरी गरीबी की समस्या को लेकर चलती है। कहानी दो युवा दोस्तों की है जो एक साथ विदेश में अध्ययन कर स्वदेश लौटे हैं। विदेश प्रवास के दौरान समाज को बदल डालने का जो जोश दोनों में था वह देश लौटने पर नयी दिशाएं ढूंढता है। एक पारिवारिक जिम्मेदारियों से समझौता कर बदल रहा है और दूसरा क्रांति की धुन में व्यावहारिक सच्चाइयों से भाग छात्र आंदोलनों में सक्रिय रहने की कोशिश में है। मुद्दा है अंग्रेजी भाषा का विरोध और क्रांति के माध्यम से उसे हासिल करना है। किन्तु वास्तव में क्रांति क्या है? क्रांति न तो लीक से हट कर चलने का नाम है,

न तोड़फोड़ से समाज का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का नाम और न ही अविवाहित रह कर पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुंह मोड़ने का नाम। वस्तुतः ठोस रचनात्मक सक्रियता ही सफल क्रांति है। लेखक ने अन्त में नायक को रचनात्मक लेखन की ओर मोड़ दिया है। किन्तु हर क्रांतिकारी तो लेखक नहीं होता। जो लोग लेखन की क्षमता से शून्य हैं वे किस ठोस रचनात्मक राह को अपनायें—इसका जवाब लेखक नहीं देता।

प्रतिमा वर्मा की “सुबह होती है...” एक बेरोजगार नवयुवक की कहानी है। उम्र के तमाम होने में जितने सामान्य एवं अपरिहार्य ढंग से सुबह और शाम का होना निहित है उतना ही अपरिहार्य एवं सामान्य आज के जीवन मूल्यों में भ्रष्ट अनैतिक आचरणों का शामिल होना हो गया है। यह बेरोजगार नवयुवक नई उम्मीदों और नैतिक जोश लिये जब सिफारिशी नौकरी पर शासन तंत्र में फैले एक-एक स्तंभ से टकराता है तो वह समझ नहीं पाता की अकेले इस पूरी व्यवस्था से लड़ने का सामर्थ्य कहां से जुटा लाये? घर में रिटायर्ड पिता है, बूढ़ी मां है, जवान बहने हैं...ऐसे में थोथे (?) आदर्शों से चिपके रह अपनी नौकरी से हाथ धोये और पूरे परिवार को बदनसीबी के थपेड़े खाने छोड़ दे या इसी व्यवस्था का एक अंग बन अपने आदर्शों का खून कर दे? कोई छोटी सी कील जब सर निकालने लगती है तो या तो ठोक पीट दी जाती या निकाल कर फेंक दी जाती है। पूरी मशीनरी में एक छोटी सी कील की हस्ती ही क्या? उपन्यास का अंत बहुत ही सटीक एवं सुंदर बन पड़ा है। जो प्रतिमा वर्मा की गहरी संवेदनशीलता को दर्शाता है। नायक परिस्थितियों से समझौता कर चुका है और बेचेन परेशान सा घाट पर घूम रहा है—। अचानक एक खालीपन उसके अंदर व्याप्त जाता है। और कुछ हलचल हो इसी से प्रेरित वह एक गाय की पूंछ मरोड़ एक सब्जी बेचने वाली बुढ़िया के ठेले की तरफ हांक देता है। गरीब बुढ़िया हड़बड़ा जाती है। बहुत सी सब्जी गाय खा जाती है। गरीब बुढ़िया की इस दुर्दशा को देख नायक मन में एक अजीब सा संतोष महसूस करता है। यही कहानी का अंत है। दूसरे को परेशानी में डाल खुश होने की अमानवीय वृत्ति उसमें भी आ गई है। यानी वह भी अवस्था रूपी मशीन में एक कील की भांति फिट हो गया है।

दोनों उपन्यासों में अपने नैतिक मूल्यों के विरुद्ध बाहरी ताकतों के साथ समझौता न कर पाने की जिद्द नायक को एक ही दिशा की तरफ मोड़ती है। सरकारी नौकरी से अनचाहे ही इस्तीफा दे देने का दबाव। यही वह बिन्दु है जहां इन्सान समझौता करने को विवश होता है। और इसी प्रश्न को हल करने की जिजिविषा मनुष्य के सम्पूर्ण नैतिक वैयक्तिक मूल्यों को हास्यास्पद भावुक आदर्शवाद के सिवा और कुछ नहीं रहने देती। दोनों उपन्यास यही कहने की कोशिश करते हैं।

कविताएं : सुब्रह्मण्य भारती

★ मोहन चन्द्र मंटन

संपादक : इन्दिरा अर्जुन देव, प्रभाकर दिवेदी और अर्जुन देव।
प्रकाशक : राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,
श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016
पृष्ठ सं० 158, मूल्य 9-90 रुपये।

इस पुस्तक में तमिल के सुविख्यात कवि सुब्रह्मण्य भारती की स्वयं चुनी हुई 31 कविताओं का सकलन है। प्रस्तुत दिवभाषी प्रकाशन में उनकी कविताओं का मूल तमिल पाठ, उनका देवनागरी लिप्यन्तर और हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। अनुवाद की भाषा सरल, प्रांजल और मधुर है जो मूल के साथ तादात्य बनाए हुए है। कुछ लंबी कविताओं के केवल अंश रूप ही दिये गये हैं।

इन सभी कविताओं का संबंध भारती की सांस्कृतिक एकता के संदर्भ में है। कवि ने समय-समय पर राष्ट्रीय चेतना को जगाने में जो गीत रचे हैं वे लोकप्रिय तो हुए ही, साथ ही साथ—उनमें साहित्य का लालित्य भी समाहित है। गत वर्ष कविवर भारती की जन्मशती मनाए जाने के उपलक्ष्य में उक्त पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इस शुभ अवसर पर भारती की मधुर लोकप्रिय कविताओं को प्रस्तुत करना उचित ही है।

इन सभी कविताओं में कवि का राष्ट्र-प्रेम, देश की सांस्कृतिक एकता, पारस्परिक मानवीय संबंध तथा आत्म विश्वास की भावना सभी कुछ झलकते हैं। वन्देमातरम् नामक कविता में कवि का अपने देशवासियों को सम्बोधन है। “आओ गाएं वन्दे मातरम्। भारत माता की वन्दना करें। हम ऊंच-नीच का भेद नहीं मानते। हम जातिधर्म को नहीं जानते।” आदि। कवि रवीन्द्र ने भी कभी ‘भारत तीर्थ यात्री’ की कल्पना की थी। भारती राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक और भेदभाव के उन्मूलक थे। उनके लिए राष्ट्रप्रेम सर्वोपरि था। इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत 158 पृष्ठों में उनकी रचनाओं का ‘सागर में सागर’ यह संकलन है। इसकी भाषा सुबोध एवं सरल है। मुद्रण के दोषों से सर्वथा रहित सुन्दर साज-सज्जा के साथ प्रकाशित इस पुस्तक का हिन्दी संसार स्वागत करेगा। ऐसी आशा है। मूल्य भी वर्तमान मुद्रण स्थिति को देखते हुए कुछ अधिक नहीं है।

—ए०बी० 904 सरोजिनी नगर, नई दिल्ली-23

साहित्य और जीवन-मूल्य

एपार बांगला ओपार बांगला; लेखक : शंकर; अनुवादक : प्रबोध कुमार मजुमदार; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002; पृष्ठ संख्या : 300; मूल्य : 40 रुपये।

सतह के ऊपर सतह के नीचे; लेखक डा० रघुवीर चौधरी प्रकाशक : स्मृति प्रकाशन, 124 शहराबाग, इलाहाबाद-211003; पृष्ठ संख्या : 215; मूल्य : 20 रुपये।

एक प्रकार के यथार्थवादियों के आग्रह से साहित्य बार-बार मूल्यहीनता की ओर अग्रसर हुआ है। तर्क यह रहा है कि साहित्यकार का काम यथार्थ का द्रष्टा होना है। मूल्यवाद की स्थापना करना सौन्दर्य शास्त्र का नहीं नीतिशास्त्र का काम है और आज के जीवन से मूल्य गायब हो गया है। अतः यथार्थवादी यदि मूल्य की बात करता है तो वह मूल्य का अनुभव नहीं करता, कल्पना करता है। किन्तु प्रश्न है कि क्या सचमुच साहित्यकर्म मूल्य से असंपृक्त होता है और क्या सचमुच आज के जीवन से मूल्य भड़ गये हैं? इन प्रश्नों से जूझने वाली दो कृतियाँ (एक बांगला की, एक गुजराती की) मेरे सामने हैं। उनसे साक्षात्कार किया जा सकता है।

‘एपार बांगला ओपार बांगला’ बंगला भाषा के प्रख्यात कथाकार ‘शंकर’ का कथात्मक यात्रा वृत्तांत है। लेखक ने निवेदन में लिखा है कि “संसार देखने के लोभ से एक दिन स्वदेश छोड़कर निकल पड़ा था लेकिन भू-प्रदक्षिणा समाप्त कर समझ रहा हूँ कि दूर बैठकर स्वदेश के सिवा और कुछ भी नहीं देख सका।”

इस पुस्तक को लेखक ने अपने लेखक-जीवन का महत्वपूर्ण पदक्षेप माना है। पाठकीय दृष्टि में भी यह एक बहुत महत्वपूर्ण रचना है। महत्वपूर्ण इसलिए तो है ही कि इसमें शंकर के कथाकार की वर्णन छवि और अद्भुत शैली-सौंदर्य के दर्शन होते हैं, इसलिए भी है कि लेखक स्वयं एक वृहत्तर जीवन के ठीक सामने खड़ा है। उसे कल्पना के व्याज से नहीं स्वयं अपने साथ घटी घटनाओं प्रसंगों और अनुभवों के माध्यम से उजागर करता है। बंगाल से लेकर अमेरिका तक के व्यापक जगत के अनेक जीवन रंगों की पहचान करता हुआ लेखक उनसे अद्भुत आत्मीयता स्थापित कर लेता है। विदेशी जीवन पर आधारित कथाओं में प्रायः तटस्थता और आत्मीयता का अभाव पाया जाता है। कथाकार प्रायः एक प्रकार की जीवन पद्धति की पक्षधरता सा करने लगता है और दूसरे प्रकार की जीवन-पद्धति में उसे दोष ही दोष दिखाई देने लगते हैं। शंकर ने ऐसा नहीं किया है यद्यपि उन्हें सर्वत्र अपना देश और विशेषकर बंगाल याद आता है किन्तु वे जहाँ होते हैं वहाँ की सभ्यता और संस्कृति

के प्रति रागात्मकता की कमी नहीं होने देते।

इस पुस्तक के तीन मुख्य बिन्दु हैं (1) विदेश में बंगवासियों का स्वदेश के प्रति उत्कट अनुराग और अनुराग के फलस्वरूप शंकर के प्रति गहरा आत्मीय भाव (2) विदेश में पश्चिमी बंगाल (भारत) और पूर्वी बंगाल (पहले पाकिस्तान अब बांग्लादेश) की अद्भुत एकता (3) विदेश के लोगों के प्रति लेखक का गहरा मानवीय भाव। लेखक ने यह अनुभव किया कि विदेश जाकर बंगालियों में स्वदेश और विशेषतया बंगाल के लिए तड़प गहरी हो जाती है। यह बंगालियों ही नहीं, सभी संवेदनशील लोगों के लिए स्वाभाविक होता है। देश से दूर होकर मनसे देश के लिए और समीप हो जाते हैं। भौगोलिक दूरी उनमें अपनी जमीन के प्रति एक तड़प भर देती है। इससे भिन्न भी होता है किन्तु शंकर ने अलगाव की अपेक्षा लगाव को ज्यादा महत्व दिया है। लेखक जहाँ भी गया, उसके देशवासियों ने उसे अपार स्नेह आत्मीयता दी और वह विदेश में एक

डा० रामदरश मिश्र

खालीपन ढोने के स्थान पर भरापूरापन अनुभव करता रहा। पता नहीं यह सौभाग्य कितनों को प्राप्त होता है किन्तु लेखक को प्राप्त है और यह सत्य होने के साथ-साथ एक मानवीय मूल्यदृष्टि भी उभारता है। अजनबीपन अकेलेपन के आज के साहित्यिक माहौल में यह रचना अनुभव के आधार पर हमें अजनबी लोगों के बीच एक अपनापे का बोध पैदा करती है यह बहुत बड़ी बात है।

राजनीति ने एक ही देश को बांट दिया। बंटवारा सांस्कृतिक नहीं, शुद्ध जातीय और राजनीतिक आधार पर हुआ। एक ही घर के दो टुकड़े हो गये। बंटवारा भी घर के लोगों की आपसी रजामंदी से नहीं हुआ बल्कि घर के बाहर के लोगों के अपने स्वार्थ, झग और दबाव से हुआ। एक पश्चिमी बंगाल बना एक बांग्लादेश किन्तु एक ही संस्कृति, भाषा और जमीन से जुड़े हुए लोग आपस में अलग होने के लिए अभिशप्त होकर भी उस संस्कृति, भाषा और जमीन के कारण एक दूसरे से कट नहीं सके। एक दूसरे से मिलने की तड़प उनके अंदर जीवित रही। और जब राजनीति के दायरे से मुक्त होकर विदेश की भूमि पर पश्चिम बंगाल और बांग्ला देश के लोग मिलते हैं तब उनकी सांस्कृतिक और भाषागत एकता उन्हें एक दूसरे से बड़ी गहराई से जोड़ देती है, वे एक ही घर के दो सगे भाई की तरह अनुभव करते हैं। तब राजनीतिक दृष्टि से देखी गई सच्चाइयाँ कितनी कुरूप और अमानवीय लगती हैं। इस पुस्तक में बांग्लादेश के मुसलमानों के साथ शंकर

की आत्मीयता के कई प्रसंग हैं जो राजनीति की क्रूरता पर व्यंग्य करते हैं और मूलभूत मानवीय एकता का बोध कराते हैं।

प्रायः हम विदेशियों के बारे में सही राय नहीं बना पाते। वजह यह है कि हम देशों को राजनीतिक संबंधों के माध्यम से देखते हैं। यदि किसी देश के साथ हमारे देश के संबंध अच्छे हैं या उस देश की शासन-व्यवस्था हमारे अपने दृष्टिकोण से मेल खाती है तब हम उस देश के लोगों के बारे में अच्छी राय बना लेते हैं। इसके विपरीत स्थिति में हम उन्हें बुरा समझने लगते हैं। वास्तव में जनता और शासन दोनों पर्याय नहीं हैं और लेखक को किसी भी देश के सामान्य जन को शासन की आंख से नहीं, मानवीय आंख से देखना चाहिए। लेखक ने अमेरिका की शासन व्यवस्था, समाज व्यवस्था शिक्षा व्यवस्था, सामाजिक सम्बन्ध आदि अनेक पहलुओं पर विचार किया है। यह बैठे ठाले का विचार नहीं है बरन् उनसे गुजर कर उनके बारे में सोचना है। उसने तटस्थ होकर उनकी तमाम अच्छाइयों की पहचान की है और किसी भी जीवन के लिए स्पृहणीय बताया है। अमेरिकी जीवन की भव्यता, समृद्धि, अनुशासन शिक्षा-प्रणाली आदि के क्षेत्र में दिखाई पड़ने वाले सौंदर्य को अपनी खुली आंख से देखा है किन्तु वह अभिभूत नहीं हुआ है उसके अंतर्विरोध को, उसकी सीमाओं को, उसकी छलना को भी

पहचाना है। सौंदर्य असौंदर्य की उसकी पहचान संश्लिष्ट और सापेक्ष है। वह अमेरिकी जीवन संपन्नता की पहचान भारतीय जीवन के अभाव की सापेक्षता में करता है तो भारतीय संस्कृति की सादगी और सहजता की सापेक्षता में अमेरिकी जीवन-संपन्नता के खोखलेपन के भीतर भी झांकता है किन्तु यह काम वह पक्षधर की हैसियत से नहीं करता, बहुत कलात्मक कौशल से करता है यदि वह अपनी भानजी खुकू के माध्यम से अमेरिकी जीवन के पक्ष में बोल पाता है तो अमेरिकी लड़की हेलेन से बहुत सुंदर, स्वस्थ और काम्य दिखाई पड़ने वाले नारी जीवन-स्वातंत्र्य, प्रेम-विवाह और शिक्षा प्रणाली आदि की विसंगतियों पर चोट करवाता है। बच्चों को आजादी देने वाले अमेरिकी परिवार की निर्लिप्तता की पहचान उभरता हुआ भी फिशर दंपति के गहरे वात्सल्य का उद्घाटन करता है। यह दंपति न केवल अपने बच्चों से बल्कि भारतीय लड़की खुकू से भी गहरे संगतमक संबंध से जुड़ा है और खुकू के प्रति उनकी गहरी पसंद भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी पसंद है। अमेरिकी जीवन की सक्रियता एवं चुस्ती और भारतीय जीवन की सहज शीलता के संयोग से विकसित खुकू एक ओर फिशर दंपति और उनके बच्चों को अच्छी लगती है और दूसरी ओर मामा शंकर को भी। वह जैसे दो सम्मिताओं और संस्कृतियों का संतुलन हो। □

सतह के ऊपर सतह के नीचे

प्रस्तुत उपन्यास गुजराती के प्रतिष्ठित साहित्यकार श्री रघुवीर चौधरी के गुजराती उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। यह उपन्यास मूलतः एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें प्रकृति के साहचर्य में उपस्थित कर मानव मन की जटिल परतों को खोला गया है। कथा भूमि गुजरात का प्रसिद्ध सरोवर नल सरोवर है जहां शीत ऋतु में विश्व के अनेक देशों के तरह-तरह के पक्षी उड़ कर आते हैं। और क्रीड़ा करते हैं पर्यटक छुट्टियां बिताने के लिए यहां आते हैं। आज माया अपने पति नन्दन के साथ आयी हुई है उसके साथ उसके अन्य कुटुंबी जन हैं—रेखा मालव और अंकुश।

सचिन अपने मौसरे भाई नरेन के यहां आया हुआ है। नरेन नल-सरोवर का प्रबंधक हैं। नल सरोवर के किनारे धूमता हुआ सचिन माया नाम सुनता है और चौंक पड़ता है। वह उस लड़की की ओर देखने का प्रयत्न करता है किन्तु उसका चेहरा स्पष्ट दीखता नहीं। अन्य अंगों को देखने से उसे आभास होता है कि यह वही माया हो सकती है जो उसके जीवन में कुछ साल पहले आ चुकी थी। नन्दन घोड़े पर चढ़ता है और घोड़ा बिदक जाता है। उस बिदके हुए घोड़े को सचिन संभालता है और नाटकीय ढंग से माया और सचिन आमने-सामने होते हैं।

सचिन को ज्ञान होता है कि माया का विवाह हो चुका है। माया के प्रति उसका पूर्व लगाव और उसकी वर्तमान वैवाहिक स्थिति एक द्वन्द्व बन कर सचिन के भीतर पैठ जाती है। नल सरोवर के तट पर सांप्रतिक घटनाओं के लिए गुंजाइश नहीं है। लेखक पिकनिक संबंधी कार्यक्रमों और प्राकृतिक दृश्यों के बीच माया की पूरी टीम को भटकाता है और सचिन बार-बार इस टीम से टकराता है। दरअसल कहानी तो माया सचिन की ही है किन्तु माया विवाहित है तो नन्दन को भी वहां होना ही था। और पिकनिक पर आये हैं तो उसके साथ कुछ और लोगों को भी होना ही था जो बातचीत से, हंसी-मजाक से एक ओर मोनोटोनी तोड़ते हैं दूसरे कुछ कथासूत्रों की ओर संकेत करते हैं।

किन्तु वास्तविक कथा तो सचिन और माया के संबंधों की है जो अतीत और यानी वर्तमान प्रेम और वैवाहिक जीवन की टकराहटों से बनती है। सचिन बार-बार अतीत की ओर लौटता है। लेखक बड़ी कुशलता से वर्तमान और अतीत, साहित्य और मिथक के द्वारा सचिन-माया के संबंधों की वास्तविकता को टकराने देता है यानी कहा जा सकता है कि उसने वर्तमान के संदर्भ में अतीत और मिथ का बहुत अच्छा रचनात्मक उपयोग किया है।

इस उपन्यास को भावना के स्तर पर चलने या समाप्त होने वाला उपन्यास नहीं कह सकते। इसमें एक जीवन दृष्टि है जो जीवन मूल्य की स्वीकृति से उत्पन्न होती है। माया चुपके से सचिन से मिलती है और चाहती है कि दोनों पिछले प्रेम संबंधों की दुनिया में लौट चले। नंदन बहुत उदार है वह उनके संबंधों के लिए स्वीकृति दे देगा किन्तु सचिन अपनी बेचैनी और द्वन्द्व व शीलता के बावजूद यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं करता। वह वर्तमान स्थिति की वास्तविकता (माया विवाहित है) को न केवल पहचानता है बल्कि उसके निषेध को अनैतिक मानता है। वह अंत तक अपनी पीड़ा का बोझ ढोता हुआ यह समझता रहता है और माया को समझाता रहता है कि अतीत को भूल जाना चाहिए। और वर्तमान स्थिति की वास्तविकता को पूरे मन से स्वीकार कर लेना चाहिए। और वह न केवल यह मानता है बल्कि उसके प्रयत्नों से नन्दन और माया के सम्बन्धों में एक ताजगी आ जाती है। नन्दन कहना चाहता था "तुमने (सचिन ने) यहां आकर हमारे संबंध को पारदर्शी बनाया है। ऐसे व्यक्ति के प्रति आभार व्यक्त करने में भी संकोच लगता है।" पर वह बोला नहीं। माया भी नन्दन के प्रति पारदर्शी हो गई किन्तु क्या सचिन के प्रति अपने लगाव को एकाएक भटक कर फेंक देना आसान था। माया बैठ गयी। सचिन ने आहिस्ते से द्वार बंद कर दिया। कार चली तो नन्दन ने द्वार ठीक से बन्द न हो पाने की ओर ध्यान दिलाया। द्वार का ठीक से बन्द न हो पाना माया के मन के अधखुले मन की ओर संकेत करता है।

रघुवीर चौधरी कवि हैं यदि कवि कथाकार होता है तो निश्चित ही उसका कवि उसके कथाकार में दखल देता है। यह दखल कभी अनुकूल होता है कभी प्रतिकूल। कथा में कविता का अनुकूल हस्तक्षेप वास्तव में हस्तक्षेप नहीं होता, उसका अंतरंग सहयोग होता है। कविता वर्तुल स्थितियों और मनः स्थितियों के संक्रान्त बिम्ब उपस्थित कर कथा को आंतरिकता प्रदान करती है। प्रस्तुत उपन्यास का पूरा प्रयत्न रहा है—सतह से ऊपर और सतह से नीचे के द्वन्द्व को उपस्थित करना। यह कार्य कविता की सहायता से ज्यादा कुशलता से संपन्न हो सकता था। लेखक ने अनेक बारीक-बारीक काव्यात्मक संकेत छोड़े हैं और साहित्य की पंक्तियों, मिथकों और प्राकृतिक दृश्यों के विधान से कथ्य को अधिक अर्थ-संकुल बनाया है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्रायः पात्र कम होते हैं। लेखक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चिंताओं से प्रायः मुक्त होकर अपने पात्र या पात्रों के प्रणय संदर्भित मन के प्रश्नों, उलझनों आदि को उद्घाटित करता है रघुवीर ने मुख्य दो या तीन पात्रों के अतिरिक्त कुछ और पात्र भी रखे हैं जो पिकनिक की वास्तविकता के निर्वाह के लिए हैं। वास्तव में मनोविज्ञान की दुनिया को एक बड़ी सामाजिक दुनिया में खड़ा किया जा

सकता है और वहां मन और व्यापक वस्तु जगत की टकराहटों से अंतर्संय पैदा होता है उसकी छवि और होती है किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में मनोविज्ञान की दुनिया को बाहर फैलाने का जो प्रयत्न हुआ है उससे मात्र पर्यटन की वास्तविकता का निर्वाह हुआ है। उपन्यास की अंतर्वस्तु को लाभ नहीं हुआ है हानि भले ही हुई हो। तरेन, अर्भेसिह, रेखा मालव अंकुश कथा का एक माहौल बनाते हैं। और वह माहौल कभी-कभी निरर्थक बातचीत और पिकनिक क्रिया कलाप से स्फीत हो उठता है। वैसे अर्भेसिह एक अलग चरित्र के रूप में काफी आकर्षक है।

सचिन और माया के संबंधों की टूटन का तर्क बहुत खुल नहीं पाया है। सचिन कलकत्ता जाकर माया को वधों भूल जाता है वह कौन सी मजबूरी थी जिसने प्रेम उध्मित सचिन को कलकत्ता में माया के प्रति इतना चुप बना दिया कि माया को हार मान कर नन्दन से विवाह करना पड़ा। यह बात विस्वास-प्रद ढंग से उभर नहीं पाती। शायद लेखक मन के किसी कोने को अरूप ही छोड़ देना चाहता है।

उपन्यास की जीवन-दृष्टि मूल्यगर्भित है। लेखक भाव-यात्रा के साथ जीवन-दर्शन की बौद्धिक यात्रा भी करता है किन्तु मुझे लगता है कि यह बौद्धिक यात्रा अपने आप में महत्वपूर्ण होती हुई भी इस छोटे क्लेवर के उपन्यास के लिए भारी पड़ गई है। वह उपन्यास की पठनीयता को कभी-कभी आहत करती है और स्वयं को गला कर उपन्यास में अंतर्भूत करने के स्थान पर उसके ऊपर हो जाती है। □

आर-38, वाणी बिहार, उत्तम नगर, दिल्ली-110059

नवम्बर अंक के आकर्षण

ऐसे थे जवाहर लाल—गोपाल प्रसाद व्यास

श्रीलंका में हिंदी—डा० विरेन्द्र शर्मा

सिक्कों की हिंदी सेवा—गोवर्धन लाल पुरोहित

राम-रावण संघर्ष : भौतिकवाद पर अध्यात्मवाद की विजय

—डा० उषा बाला

इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखिका राजी सेठ द्वारा प्रस्तुत एक रिपोर्टज (आतंक के छत्तीस घंटे), दिविक रमेश, सुधांशु रंजन, जगदीश चन्द्र शर्मा और और पद्माशा की कविताएं तथा वातायन, रंगमंच, पुस्तक समीक्षा, प्रतिक्रियाएं आदि अन्य नियमित स्तम्भ।

कण्ठ के सहारे कविता की गाड़ी नहीं चल सकती

★ जग नारायण



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित स्व० रायकृष्ण दास का आवास "सीता निवास" ग्यारह जुलाई को एक बार पुनः अतीत की यादों को सजीव कर आसाढ़ मास की फुहारों के बीच काव्य रस में नहा उठा। "सरकार जी" (स्व० रायकृष्ण दास) के जीवन काल में इस स्थान पर अक्सर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और अज्ञेय जैसी हिन्दी काव्य को दिशा निर्देश करने वाली हस्तियों की बैठकें, काव्य चर्चाएँ एवं काव्य गोष्ठियाँ हुआ करती थीं।

उस दिन सुश्री महादेवी वर्मा ने नवगीत के प्रमुख हस्ताक्षर पं० वीरेन्द्र मिश्र, सोम ठाकुर तथा भारत भूषण जैसी हिन्दी काव्य जगत की विभूतियों की उपस्थिति में हिन्दू विश्व-विद्यालय के सूचना एवं जन सम्पर्क अधिकारी श्री जगत प्रकाश चतुर्वेदी के वर्षा संग्रह "बदली भी धूप भी" का विमोचन करते हुए अपने सुमधुर काव्य पाठ से श्रोताओं को बांध दिया।

इस अवसर पर चर्चा में भाग लेते हुए महादेवी जी ने कवियों से समाज को नई दिशा देने का आह्वान करते हुए कहा कि आज समाज में सर्वत्र चरित्र संकट व्याप्त है। मानवीय संवेदनार्थे विघटित हो रही हैं। ऐसे समय में कवियों को सामने आना चाहिये और सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिए संघर्ष की अगुवाई करनी चाहिए।

काव्य के क्षेत्र में गत पाँच दशकों से चली आ रही अराजकता की चर्चा करते हुए महादेवी जी ने कहा कि—यथार्थवाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, नवगीत आदि आन्दोलनों के आपसी विरोध के फलस्वरूप कविता के क्षेत्र में बिखराव आया है। उन्होंने कहा कि—प्रयोगवाद विज्ञान में चलता है कविता से उसका क्या सम्बन्ध है। यथार्थ तो दुनिया की प्रत्येक वस्तु है, इसलिए कविता में यथार्थ की घुसपैठ असंगत है। जिस काव्य

समूह में न लय हो न छंद हो वह कैसी कविता? कुछ लोग कण्ठ के सहारे कविता की गाड़ी चलाना चाहते हैं।

नवगीत शब्द से असहमति व्यक्त करते हुए महादेवी ने प्रश्न किया कि दस वर्ष बाद यह गीत नवगीत कैसे रहेगा? तब इस विधा को कौन सी संज्ञा दी जायेगी? उन्होंने कहा कि यदि इसे गीत ही कहा जाता तो अधिक समीचीन होता।

कविता को परिभाषित करते हुए महादेवी जी ने कहा कि काव्य सार्थक ध्वनि समूह है, जो अर्थ, बुद्धि तथा हृदय के सम्पर्क से विकसित होता है। संवेदन की अनुभूति की गहनता से शब्द अनायास उपजते हैं। कवि सौंदर्य के माध्यम से शिव तथा शिव के माध्यम से सत्य तक पहुँचता है।

इस अवसर पर कवियों ने गीत, नवगीत, एवं अन्य काव्य विधाओं के समधुर प्रस्तुतिकरण से वातावरण को रसों से सराबोर कर सजीव और आनन्दमय बना दिया। गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० भोलाशंकर व्यास ने कहा कि कविता का मूल स्रोत करुणा, व्यथा, तथा संवेदनशीलता है। उसमें अभिव्यक्त तीव्र अनुभूतियाँ अनायास हृदय का स्पर्श करती है।

नवगीत के प्रमुख हस्ताक्षर पं० वीरेन्द्र मिश्र ने कहा कि नवगीत पश्चिम की देन नहीं भारत की उपज है। आज का गीत संस्कारों से जुड़ा यथार्थवादी है। उन्होंने कहा नवगीत के अस्तित्व को कोई खतरा नहीं है।

डी० 53/100, छोटी गंभी, लक्ष्मी रोड,
वाराणसी—221010. (उत्तर प्रदेश)

जय बाबा गोपीनाथ कानपुर में

□ विष्णु प्रसाद त्रिपाठी

रंगमंच के प्रति प्रतिबद्ध गैरपेशेवर रंग कर्मियों की संस्था 'आयाम' ने गत सप्ताह कानपुर के मंचेंट चैम्बर प्रेक्षागार में फ्रांसीसी नाटककार मोलियर के विश्वविख्यात नाटक 'ला तारतूफ' के जितेन्द्र कौशल कृत भारतीय रूपांतर को 'जय बाबा गोपीनाथ' के नाम से मंचित किया। आज से लगभग सवा तीन सौ साल पहले जब पहली बार फ्रांस में इस नाटक का मंचन हुआ तब वहां के धर्मगुरुओं के आग्रह पर 'ला तारतूफ' के सार्वजनिक प्रदर्शनों पर प्रतिबंध लगा दिया गया था जो अंत में फ्रांस की संसद के हस्तक्षेप के बाद ही हट सका। यह नाटक कल जितना नवीन था आज भी पूर्ण रूपेण उतना ही प्रासंगिक है क्योंकि अब भी धार्मिक आडम्बरों की आड़ में अनगिनत अनाचार और शोषण का सिलसिला जारी है। तथाकथित धार्मिक महापुरुषों द्वारा रचे गये शोषण व व्यभिचार के जाल और उसमें फंस जाने वाली महिलाओं की 'ट्रेजेडी' को 'कामेडी' के रूप में बड़ी सशक्तता से इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है। नौकरानी राधा की भूमिका में वेधड़क संवाद बोलती कु० पूनम पाठक ने दर्शकों को भरपूर मनोरंजन दिया। बाबा गोपीनाथ की प्रमुख भूमिका में विजय शंकर सिंह 'आजमी' तथा जानकीदास के रूप में अम्बिका सिंह वर्मा ने बहुत ही सार्थक एवं सशक्त अभिनय प्रस्तुत किया। मंच पर अपनी क्षणिक उपस्थिति और अपेक्षाकृत छोटे संवादों के बावजूद पुलिस इंस्पेक्टर के रूप में आये सी० के० मिश्रा दर्शकों पर गहरी छाप छोड़ जाने में सफल रहे। मंचन के कई मार्मिक स्थलों पर शालू की भूमिका में कु० अंजनी सरिन के संवाद बहुत स्वाभाविक लगे। वरिष्ठ रंगकर्मी श्री ए०एच० थ्योडोर के अतिरिक्त जिन कलाकारों ने सफलता पूर्वक अपनी भूमिकाएँ निभाईं उनमें प्रमुख रूप से कौशल पाण्डेय, राजेश अग्रवाल, कु० शक्ति श्रीवास्तव, राजकुमार सिंह तथा राजेश सोनकर के

नाटक के एक दृश्य में पूनम पाठक और विजय शंकर सिंह



नाम उल्लेखनीय हैं। इस नाटक का निदेशन 'आयाम' नाट्य संस्था से संबंध युवा रंगकर्मी श्री राकेश सिंह ने किया। □

जो 109 रिजर्व बैंक कालोनी, किदवई नगर, कानपुर 208011



अबूहसन के एक दृश्य में विजेश जोशी और प्रतिभा शर्मा

सहारनपुर में अबूहसन का मंचन

□ मृदुल

सहारनपुर : प्रसिद्ध संस्था "नाट्य" द्वारा आयोजित प्रशिक्षण शिविर स्थानीय आशा माड्रन स्कूल में अत्यन्त सफलता के साथ सम्पन्न हुआ जिसमें राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से उत्तीर्ण छात्र रामचन्द्र शेल्ले ने नये-पुराने रंगकर्मियों को मंचीय प्रशिक्षण प्रदान किया। समापन समारोह के अवसर पर बादल सरकार कृत नाटक "अबूहसन" का सफल मंचन किया गया। नाटक का कथानक आज से सौ वर्ष पूर्व रचा गया था परन्तु बादल सरकार ने उसे आधुनिक संदर्भों में ढालकर अनेक शैलियों का मिश्रण कर नाटक को व्यंग्य नाटक में परिवर्तित कर दिया नाटक जिस भावना से लिया गया कलाकारों ने भी उसी भावना से उसे जिया। मुख्य पात्रों में जावेद सरोहा, प्रवेश धवन जितेन्द्र तायल, वीना विष्ट, नीलम शर्मा, आभा मित्तल, प्रतिभा शर्मा के साथ-साथ अपनी सूत्रधार, फरियादी, व पागल की भूमिका में विजेश जोशी ने प्रभावित किया। आर० के० धवन, निर्मल वोहरा, चांद दुर्गानी राजीव सिंघल, महेन्द्र पाल, विपिन चौधरी, राम शरण वर्मा नाटक के अन्य सफल कलाकार सिद्ध हुए। नाटक का निर्देशन रामचन्द्र शेल्ले ने किया। □

7/1043 जोड़ कुंआ, सहारनपुर

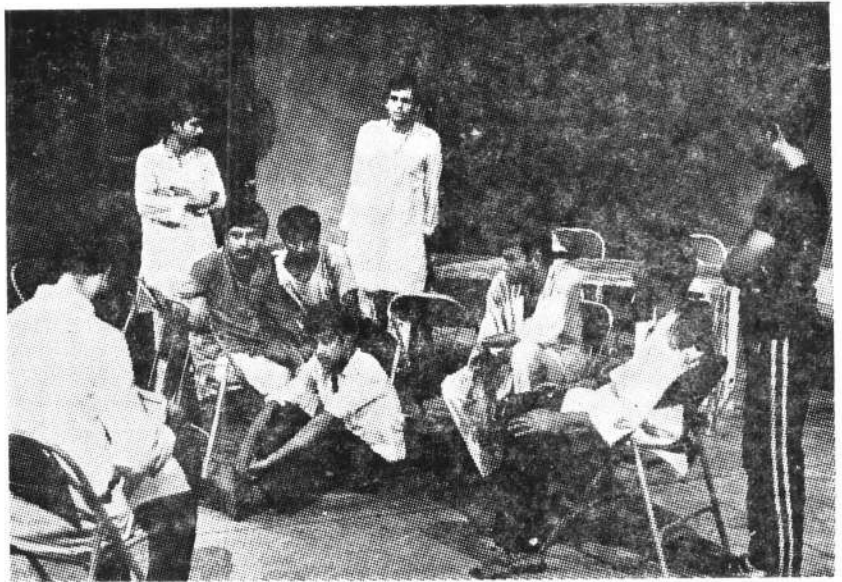
होली

महेश एल कुंचवर द्वारा लिखित नाटक 'होली' का राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तृतीय वर्ष के छात्रों ने विजया मेहता के निर्देशन में मंचन किया।

लेखक ने इस नाटक में छात्र-पीढ़ी में बढ़ती अनुशासन हीनता व विद्रोह की भावना तथा उसका शिकार होने वाले भोले-भाले छात्र वर्ग का सजीव चित्रण किया है। लेखक यह दिखाता है कि उत्तेजक-विद्रोही छात्रों के बीच एक सीधे-सच्चे

छात्र की क्या स्थिति होती है। ऐसे कुछ छात्र असहनीय परिस्थितियों में आत्महत्या करने को मजबूर हो जाते हैं। लेखन-शैली बहुत प्रभावपूर्ण है। एक अति गंभीर विषय को लेखक ने बहुत ही हल्के-फुल्के ढंग से कहा है। और नाटक के अंत को एक नाटकीय परिवर्तन देकर करुण बना दिया है।

विजया मेहता के निर्देशन में कसाव है। दृश्य-परिवर्तन की सुन्दर योजना के द्वारा वह छोटे से थियेटर में संपूर्ण कालेज



का माहौल बड़ी सफलता से चित्रित कर पाती हैं।

अभिनेताओं में भोले-भाले छात्र की भूमिका कर रहे आनंद वर्धन का अभिनय सर्वोत्कृष्ट था। इनके अतिरिक्त सुरेन्द्र शर्मा, युसुफ खुर्रम अपसर हुसैन व चंद्र मोहन भी अपनी-अपनी भूमिकाओं में खरे उतरे।

कमल व्यास,

सी-31, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-49

(पृष्ठ 43 का शेष)

कर्ण : मरना नहीं है मां

जीवन का अन्तिम लक्ष्य
तुम भी तो जानती हो—

गर्जन कर मेघ जब
सार्थकता पाते हैं—

खाली हो जाते हैं ?

इसीलिए कहता हूँ—

खाली हो जाने दो—

अन्न मय कोष और प्राणमय
कोष को

खाली हो जाने दो—

दर्प से, स्वार्थ से मिथ्या अहंकार
से—

धर्म के अधर्म से—होने के न
होने से—।

तुमने जो दिया है मुझे

खाली हो गयी हो तुम—

मुझ को भी खाली हो जाने दो

देकर के आत्म !

मेरा यह आत्मदान—

व्यर्थ नहीं जायेगा

कोई तो, कभी बैठ सोचेगा

भुवन में

कौन सी बात थी—

युद्ध के प्रलय के समय एक मां—

कितने ही प्रश्न लिए

आई थी बेटे को देने के लिए

अपूर्व स्नेह—

जीवन भर जिसके पास

आ न सकी एक बूंद

उसकी परितृप्ति के लिए

उमड़ी थी गंगा स्वयं।

सब कुछ मिट जायेगा

पर जीवित रहेगा यह

तुम्हारा स्नेह दान—।

कुंती : जो कुछ भी होगा अब

होकर रहेगा वत्स

लेकिन मैं शेष समय जीवित रह

पाऊंगी—

तुम्हारे स्वीकार से—

जितनी भी बार कर्ण तुमने मुझे

मां कहा—

उतने ही संवत्सर भू पर दियेगा

प्यार

कर्ण : मैंने भी पाया है मां

तुम्हारे इस आने से

जीवन का नया अर्थ—

आत्मा का नया स्पंदन

तुम्हारी करुणा की वर्षा के बाद

अपने को भरा भरा मान रहा हूँ

कुछ भी शेष नहीं रहा—!

यह वेदना भी नहीं

कि मैं मां के आशीश के बिना

दिवंगत हो जाऊंगा

जाओ मां, जाओ मां—

(कहता हुआ मुंह फेर कर घुटनों

के बल बैठता है। धीरे धीरे

कुंती वापिस जाने लगती है) □

25 बंगलो रोड, दिल्ली—110007



आजकल का जुलाई अंक स्व० पितामह पर पर्याप्त सामग्री लिए मिला। संपादकीय टिप्पणी में मात्र कहानियों को छोड़कर अन्य कोई भी गुलेरी साहित्य न मिल पाने की स्थिति अज्ञानवश संभव थी पर मनोहरलाल ने भी पृष्ठ पांच पर 1981 में मेरी संपादित पुस्तकों का मात्र नामोच्चारण करते हुए कवि पक्ष की तो मास्यताएं स्थापित की हैं वे उनकी मौलिक न होकर मेरी पुस्तक पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और उनकी कविताएं (चिन्मय प्रकाशन जयपुर) पर पूर्णतः आधारित हैं। यह पुस्तक 1981 में मैंने ही उन्हें स्वाध्यायार्थ भेंट की थी। मात्र उद्धरण दे देने से यदि वे अपनी प्रवृत्ति के विरुद्ध साहित्यिक शुचिता बनाए रखते तो अधिक अच्छा लगता। खैर व्यावसायिकता से ही सही इस विषय को आपने स्थान तो दिया। अच्छा होता यदि कुछ विभिन्न लेखकों के विचार छपते।

लेख में कुछ जानकारीयां भ्रान्तिपूर्ण हैं। पृष्ठ 7 पर छद्म नामों में 'गुलेरी' शब्द का प्रयोग निबन्ध 'आंख' में (अगस्त 1905 की सरस्वती में) मनोहरलाल ने सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ माना है जबकि पायोनियर प्रेस इलाहाबाद में मुद्रित 1902 ई० में जयपुर नरेश के संरक्षण में प्रकाशित स्व० गुलेरी जी की पुस्तक 'जयपुर आब्जर्वेरेण्ड एण्ड इट्स विल्डसे' के आवरण पृष्ठ पर ही लैपटीनेन्ट गौर और पण्डित चन्द्रधर गुलेरी द्वारा लिखित छपा था और गुलेरी उपनाम का प्रयोग इस तरह गुलेरी जी ने 1902 में किया न कि 1905 में। 1902 में गुलेरी जी की वय मात्र 19 वर्ष थी।

पृष्ठ 6 पर मनोहरलाल लिखते हैं उनका पहला निबंध 'सुदर्शन की सुदृष्टि' सबसे पहले समालोचक (अक्तूबर 1903) में छपा था जबकि मेरे शोध के अनुसार 1902 में उनके समालोचक में छपे इतः पूर्व के निबन्ध ये हैं—'प्र और परि' समालोचक, नवम्बर 1902, वर्ष पहला, अंक 4 पृष्ठ 9 से 13, 'हिन्दी की लिपि प्रणाली'—समा० अगस्त 1902 अंक, पृष्ठ 13-14, 'साहित्य समालोचना समालोचक' 1902 अंक 3 पृष्ठ 10 और 'हिन्दी की चिन्दी' समालोचक 1902 अंक 3 पृष्ठ 20।

सबसे बड़ी भूल उर्जा और जोश में मनोहरलाल पृष्ठ 3 पर यह लिखकर करते हैं। 1904 में—इसी वर्ष उनका विवाह हरिपुर गुलेर कांगड़ा के स्थानीय कवि रेणा की पुत्री पद्मावती से हुआ। आपकी पत्रिका के पाठकों के लिए वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दूं कि स्व० गुलेरी जी का विवाह सन् 1899 में मात्र सोलह

(16) वर्ष की अवस्था में हुआ था न कि 1904 में। उनकी पत्नी पद्मावती कश्मीरी रैया परिवार की थी। गुलेरी जी की चौथी कथा 'पनघट' 'बुद्धू का कांटा' का ही तीसरा भाग न होकर स्वतंत्र कथा है जिसे राजकमल प्रकाशन से शीघ्र प्रकाशित गुलेरी ग्रंथावली में समाविष्ट किया जा सकेगा। सम्पादकीय उदारता के लिए धन्यवादी हूं।

डा० विद्याधर शर्मा गुलेरी
पंडित चन्द्र धर शर्मा गुलेरी साहित्य शोध संस्थान चन्द्रभवन,
गुलेर कांगड़ा (हि०प्र०)

मैं 'आजकल' का नया पाठक हूं। प्रथम बार मेरे हाथ में इसका मई अंक आया। तब से मैं इस पत्रिका पर मुग्ध हो गया हूं। प्रत्येक अंक पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक ज्ञानवर्धक लगा। प्रस्तुत जुलाई अंक के सभी लेख, कविताएं तथा 'अश्क' जी से भेंट काफ़ी ज्ञानवर्धक और रोचक लगे। कहानियों में सुखमय जीवन तथा पितृभक्ति काफ़ी प्रशंसनीय है। परन्तु डा० लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित रंगनाटक 'फुटबॉल' ने सारा मजा किरकिरा कर दिया। इस कहानी का सरदर्द-निवारक दवाई के प्रचार हेतु उपयोग किया जाय तो ठीक रहेगा। मुझे खुद 2 एनासिन के मूल्य इस रंगनाटक को शुरू से अन्त तक पढ़ पाने की सजा के रूप में चुकाने पड़े। कुल मिला कर पत्रिका 'गागर में सागर' लोकोक्ति की पुष्टि करती है।

प्रभात, पटना

'आजकल' का उपरोक्त अंक मिला। जुलाई अंक 83 में गुलेरी जी का व्यक्तित्व और कृतित्व लेख पढ़कर मुझे तो पहली बार मालूम हुआ कि वह कितने बड़े साहित्य सृष्टा, भाषाविद् और प्रखर बुद्धि के इंसान थे। हिन्दी के शतप्रतिशत लोग तो यही जानते हैं कि उन्होंने मात्र एक कहानी (उसने कहा था) के अलावा और कुछ लिखा ही नहीं लेकिन 'मारेसि मोहि कुठाऊ' तथा अन्य रचनाओं को पढ़ कर यह ज्ञात होता है कि इस अमर कहानी के अलावा भी कितनी सशक्त और पांडित्यपूर्ण रचनायें वे हिन्दी जगत को दे गये हैं। इसी अंक में पराङ्करजी पर व्यास जी का लेख तथा डा० शंभुनाथ सिंह की तीन कवितायें बहुत पसंद आईं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' से राजेन्द्र टोकी की बातचीत साहित्यकारों को सोचने के लिये बहुत से सवाल खड़ी करती है। अश्क जी के कड़वे भीठे अनुभवों से आज का नव रचनाकार शिक्षा ले सकता है। उनका जो जीवन दर्शन है तथा लेखन के जो आदर्श और मानदण्ड हैं वह सबको प्रभावित करते हैं। अपनी बातचीत में उन्होंने नागरजी के कुछ उपन्यासों की जो आलोचना की है तथा उनके लेखन आदर्शों को जिस ढंग से नकारा है वह मुझे प्रिय नहीं लगा।

आनन्द स्वरूप श्रीवास्तव
खलीलाबाद, बस्ती, उ० प्र०

आपके द्वारा संपादित 'आजकल' पिछले कुछ वर्षों से नियमित रूप से पढ़ता रहा हूँ। जुलाई अंक साज सज्जा की दृष्टि से तो बेजोड़ है ही साथ ही साथ इसमें छपे लेख और कहानियाँ काफी प्रशंसनीय हैं। लेकिन इस अंक में छपे उपेन्द्र नाथ अश्व के साथ राजेन्द्र टोकी की बातचीत जमी नहीं। अश्व काफी आत्मविश्वासी तथा आत्मप्रवचना से भरपूर लगे। सारी बातचीत के दौरान आज की कहानियों, आज के साहित्यकारों के लेखों आदि का मखौल उड़ाते रहे। अश्व जी ने जिस गुट-बाजी की बातें कहीं हैं क्या वे खुद ही इसमें लिप्त नहीं रहे हैं। आज के इस भागदौड़ के युग में बहुत ही कम लोग मिलेंगे जो अश्व के उपन्यासों को पढ़ पाए होंगे। खुद उन्होंने भी ऐसे ही उदाहरण दिए हैं जिससे यह लगता है कि उनके उपन्यासों का पाठक वर्ग बहुत ही सीमित रहा है।

वे खुद ही कहते हैं कि मैं पाठक के लिए नहीं लिखकर आत्म संतुष्टि के लिए लिखता हूँ। क्या ऐसे ही साहित्यकारों पर हिन्दी का भविष्य टिका है? अगर ऐसे ही आत्मसंतुष्टि के लिए लिखने वाले हिन्दी के लेखक होते तो आज जो हिन्दी जन-जन की भाषा बनती जा रही है नहीं बन पाती।

मनोज मोहन सहाय,
मुजफ्फरपुर

'आजकल' का जुलाई अंक प्राप्त हुआ। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पर आपने उत्कृष्ट सामग्री प्रदान की है। अंक संग्रहणीय बन पड़ा है। देवेन्द्र उपाध्याय की कहानी 'पितृ भक्ति' आज की सच्चाई तथा मानव-मन में पनप रहे लालच, संशय तथा कुष्ठा को उजागर करती है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'फुटबाल' को एक निष्कण्ट कोटि के नाटक की संज्ञा दी जा सकती है। क्षमा करें, एक प्रतिष्ठित तथा विद्वान नाटककार से ऐसे नाटक की अपेक्षा नहीं थी। लगता है, रचना से अधिक आप लेखक के

नाम को महत्व देते हैं। पत्रिका के स्तर को बनाए रखने के लिए कृपया रचना को अधिक महत्व दें, ताकि हम लेखक पाठकों के मन में 'आजकल' की जो प्रतिष्ठा है, वह कभी धूमिल न हो।

राकेश भ्रमर, आँकलेन्ड, शिलांग।

जुलाई 83 अंक आकर्षक एवं उद्देश्यपूर्ण रहा इस प्रयास पर खुशी हुई। पं० गुलेरी जी एवं अश्व जी के साथ हुए साक्षात्कार वार्ता पर दो चार बातें लिखने की इच्छा हुई।

पं० गुलेरी जी का हिन्दी साहित्य के कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान है जिस कारण उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में उचित स्थान मिला। उनकी ग्रंथावली निकले, हिन्दी साहित्य प्रेमियों की ओर से इस प्रयास के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद परंतु पं० गुलेरी जी को उनकी कहानियों के द्वारा इतना ऊँचा उठाना अतिशयोक्ति विचार एवं कार्य है। यह सारिका के जुलाई के प्रथम अंक से स्पष्ट हो जाता है।

अब अश्व जी उन्होंने अपने जीवन-दर्शन के बारे में जो कविता लिखी है, गौर से उस पर सोचें तो उसमें जीवन-दर्शन की बातें नहीं मिलती हैं ज्यादा विवाद किया जाए तो कुछ सतही बातें निकल सकती हैं इस जबरदस्ती से क्या फायदा।

राजेन्द्र टोकी की बात "परन्तु एक बात मुझे बराबर कचोटती रही कि किसी उपन्यास में पूरी तरह जुड़ नहीं पाया, आपके उपन्यास इस दृष्टि से अपवाद रहे" मुझे जंचती नहीं।

अश्वजी ने कहा है। अब मैं कहानी लिख सकता हूँ, ऊँची लिख सकता हूँ जो बहुत बारीक, बहुत पेचीदा, इंसान की कई कृतियों की बहु आयामी कहानियाँ हैं" और फिर "मुझे वो कहानी आकर्षित नहीं करती जो बहुत पेचीदा हो" समझ में नहीं आता अश्व जी क्या कहना चाहते हैं। इस पर यह कहा जाए कि बहुत ऊँची बात है, सहज समझ में नहीं आएगी। साहित्य का उत्कर्ष शाश्वत होता है। इस पैमाने में अश्व जी कहां हैं, यह बतलाते तो ज्यादा ठीक था।

अजितकुमार वर्मा, पटना

(पृष्ठ 69 का शेष)

तीसरी ओर हिन्दी और अहिन्दी भाषी प्रदेशों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम को मात्र साहित्य तक सीमित न रखकर व्यापक परिवेश देना आवश्यक है। मानविकी और वैज्ञानिक विषयों पर सामान्य ज्ञानों के लिए लिखित पुस्तकें कोर्स में रखने से सामान्य ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होगी, वरन् हिन्दी भाषा को भी अधिक गतिशील रूप मिलेगा, किन्तु इसके लिए भी पाठन सामग्री नहीं है।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को सबसे पहले साहित्य तक सीमित न किया जाय। उसे व्यापक परिवेश दिया जाना आवश्यक है। गद्य-संकलनों में मानविकी, वाणिज्य, विज्ञान आदि पर लेख दिए जाने चाहिए। यह व्यावसायिकों (Professionals) के लिए उपयोगी होगा। इसके अलावा छात्रों की सृजनात्मक क्षमता बढ़ाने पर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इससे हिन्दी का विकास होगा।

विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों को हिन्दी के प्रचार-प्रसार के भ्रमेले में नहीं पड़ना चाहिए, पर हिन्दी में विकास-भाषा स्वरूप, विविध विषय, संप्रेषण क्षमता आदि सभी के विकास में उनका महत्वपूर्ण दायित्व है। हिन्दी-विभाग यदि अपने क्षेत्र को व्यापक कर सके तो इससे हिन्दी का विकास हो सकेगा। इसके लिए साहित्येतर विषयों पर ग्रंथ रचना, अन्य विभागों के साथ सहयोग, अन्य प्रदेशों की भाषा, साहित्य एवं संस्कृतियों का अध्ययन एवं लेखन, अन्य विभागों के सहयोग से कोश, शब्दावली आदि का निर्माण, विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्रों एवं अध्यापकों का विशेषीकृत विषयों में सहयोगी कार्य आदि योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सकता है। इन कार्यों से हिन्दी का अवश्य ही विकास होगा, परन्तु इसके लिए पूरी निष्ठा, ईमानदारी और अध्यवसाय परमावश्यक है। □

ए-98, अशोक विहार फेस.1 दिल्ली 110052



मायकोव्स्की जन्मोत्सव

रूसी कवि मायकोव्स्की के 90वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में पिछले दिनों यहां सोवियत सांस्कृतिक केन्द्र, नयी दिल्ली में एक समारोह का आयोजन किया गया।

इस अवसर पर मुख्य अतिथि डा० हरिवंश राय बच्चन ने रूसी भाषा के प्राध्यापक वरयाम सिंह की पुस्तक “मायकोव्स्की की क्रांतिपूर्ण कविताएं” का विमोचन किया।

बच्चन जी ने शब्द की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि शब्द की शक्ति अथाह होती है एवं सर्वकालिक होती है। शब्दों की अनुगूँज सदियों तक रहती है। उन्होंने कहा कि, “मुझे मायकोव्स्की इसलिये पसंद है क्योंकि उसने मनुष्य में विश्वास स्थापित किया और पूर्ण निर्भीकता तथा आत्मविश्वास से काव्य सृजन किया। ऐसे लोग रूस में ही नहीं, दुनिया में बहुत कम जन्मते हैं। सदियां गुजर जाती हैं—किसी ऐसे आदमी को देखे हुए।

सुपरिचित कवि डा० गंगाप्रसाद विमल ने अपने उद्गार प्रगट करते हुए कहा कि मायकोव्स्की रूस के ही नहीं बल्कि दुनिया के एक महान कवि हैं। इस शताब्दी में वह अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी कविता के विषय जीवन की वास्तविकताओं से चुने। इन्होंने एक ऐसे कवि की भूमिका निभायी है जो क्रांति के लिये असंख्य नौजवानों को प्रेरित करती रही है।

डा० श्याम सिंह शशि ने अपनी यूगोस्लाविया-यात्रा का एक संस्मरण सुनाया और कहा कि कवि कभी वृद्ध नहीं होता, उसका मन हमेशा जवान रहता है। हमें मायकोव्स्की जैसे महान कवियों से प्रेरणा लेनी चाहिये और अनवरत साहित्य-साधना करनी चाहिये। इनके अतिरिक्त जयप्रकाश भारती ने भी मायकोव्स्की को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की एवं वरयाम सिंह व रमेश कौशिश ने मायकोव्स्की की कविताओं का हिंदी-अनुवाद सुनाया।

—सुशील वर्मा

1167, गली धर्मशाला कूचा पाती राम, दिल्ली—6

प्रौढ़ शिक्षा एक नवीन अवधारणा

भारतवर्ष में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा अंश कालिक रूप में संचालित किया गया लेकिन प्रतिभागियों का चयन अधिक उम्र के लोगों के होने तथा साधन एवं नियोजन के अभाव में उसे अपेक्षित सफलता नहीं मिली।

2 अक्टूबर 1978 से देश में पूर्ण नियोजित ढंग से संचालित करने के उद्देश्य से 15-35 वर्ष वय की महिलाओं और पुरुषों को साक्षर बनाने के साथ ही चेतना जागृति करने एवं व्यवहारिक दक्षता का लक्ष्य रखा गया, यद्यपि प्रारम्भिक दो वर्ष निदेशालयों के गठन एवं अधिकारियों की नियुक्तियों में निकल गए किन्तु वर्ष 1980 से 11 प्रदेशों के जिलों एवं विकास खण्ड स्तर पर इसकी शुरुआत हुई। उत्तर प्रदेश के 32 जिलों के 300 केन्द्रों की योजना केन्द्रीय बजट से चल रही है जहां दो-दो विकास खण्डों के दस मासीय सत्रों का तृतीय सत्र चल रहा है।

इस कार्यक्रम को अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से प्रदेश सरकार ने 11 जिलों के 100-100 प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों की 11 परियोजनाएं 1981 से संचालित की है।



बुन्देलखण्ड के चार जिलों भ्रांसी, जालौन, बांदा में वर्ष 1980 से 300 प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों की परियोजनाएं दो-दो विकास खण्डों में संचालित है तथा वर्ष 1981-82 से हमीरपुर के सुमेरपुर विकास खण्ड में 100 केन्द्रों में संचालित है। जनवरी 82 से शुरू हुए प्रथम सत्र में 100 केन्द्रों पर 30 प्रतिभागी के हिसाब से तीन हजार पंजीकृत किए गए जिसमें 1710 पुरुष, 1290 महिलाएं सम्मिलित हैं तथा पिछड़ी जाति के महिला पुरुष 1800 व अनुसूचित जाति के महिला पुरुष 802 हैं।

—महेश प्रसाद अवस्थी

रमेड़ी, हमीरपुर-210301 (उ.प्र.)



समूचे हिन्दुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमको भारतीय भाषाओं में से एक ऐसी भाषा की जरूरत है, जिसे आज ज्यादा से ज्यादा तादाद में लोग जानते और समझते हों, बाकी के लोग जिसे जल्दी सीख सकें और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है ।

—महात्मा गांधी